विवेक ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

रामकृष्ण मिशन,
विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

वर्ष : २८ अंक ३
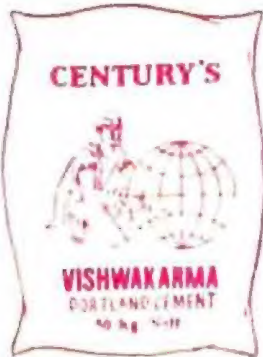
विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जुलाई–अगस्त–सितम्बर

• १९९० •

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सह सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी त्यागात्मानन्द

वार्षिक १०)

एक प्रति ३)

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) १००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर-४९२ ००१ (म.प्र.)

दूरभाष : ७४५८९

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(९० वीं तालिका)

३२४७. बाल वाचनालय, नरवेल, बुलढाणा
३२४८. श्री विद्याधर बी. कुलकर्णी, नागपुर
३२४९. श्री रमेश पटेल, दुर्ग
३२५०. श्री एस.सी. बीर, रायपुर
३२५१. श्री बी.एस. दत्ता बिलासपुर
३२५२. श्री कृष्ण नारायण दीक्षित राजनादगाव
३२५३. प्रो. अनिलकुमार सिंह सुल्तानपुर
३२५४. प्राचार्य गवर्नमेण्ट हा.से. स्कूल, करपगाँव, खरगोन
३२५५. प्राचार्य, गवर्नमेण्ट ब्वायेज हा.से. स्कूल, सालेचौका
३२५६. श्री रामाशिस राय, मुंगेर
३२५७. कु. राधिका मिश्रा, नयी दिल्ली
३२५८. श्री शिवशंकर सिंह, दुर्ग
३२५९. श्रीमती शीला त्रिवेदी, झाबुआ
३२६०. श्री हरिदेव पालीवाल, जयपुर (राज.)
३२६१. श्री दिलीप कृष्णाजी हरेद्वारकर, मिरज, सांगली
३२६२. श्री शंकर श्रीपति कोष्ठी, मिरज, सांगली
३२६३. श्री झुमुकलाल साव, जगदलपुर, बस्तर
३२६४. श्री राधामोहन माहेश्वरी, खुरई, सागर
३२६५. श्री टी. मुखर्जी, शंकरनगर, रायपुर
३२६६. श्री माखनसिंह चौहान, देवास गेट, उज्जैन
३२६७. श्री सुशील रुंगटा, बम्बई
३२६८. श्री बी.एल. विश्वकर्मा, मण्डला
३२६९. श्री शिताबसिंह चौधरी, यमुनानगर, हरियाणा
३२७०. श्री रामभूषणदासजी महाराज, भावनगर
३२७१. श्री रमेश जोशी, वीरगाँव, रायपुर

अनुक्रमणिका

मुद्रक : नईदुनिया प्रिंटरी, इन्दौर–४५२ ००९ (म. प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण - विवेकानन्द - भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २८] जुलाई-अगस्त-सितम्बर ★ १९९० ★ [अंक ३

सत्संग सर्वफलदायी

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति ।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं
सत्सङ्गतिः कथय किन्न करोति पुंसाम् ।।

—सत्संगति मनुष्य का कौन सा उपकार नहीं करती ? वह बुद्धि की जड़ता का नाश करती है, वाणी को सत्य-रस से सिंचित करती है, सम्मान प्रदान करती है, पापों का निवारण करती है, चित्त को प्रसन्न रखती है और सभी दिशाओं में कीर्ति का विस्तार करती है ।

—भर्तृहरिकृत 'नीतिशतकम्', २३

अग्नि-मंत्र

(भगिनी निवेदिता को लिखित)

लॉस एंजिलिस,
६ दिसम्बर, १८९९

प्रिय मार्गट,

तुम्हारी छठी तारीख आ पहुँची है किन्तु उससे भी मेरे भाग्य में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ है। क्या तुम सोचती हो कि परिवर्तन से कोई विशेष उपकार होगा ? किसी किसी की बनावट ही ऐसी है कि दुःख-कष्ट भोगना ही वे पसन्द करते हैं । वस्तुतः जिन लोगों के बीच मैंने जन्म लिया हैं, यदि उनके लिए मैं अपना हृदय न्योछावर नहीं कर देता, तो किसी दूसरे के लिए मुझे वैसा करना ही पड़ता—इसमें सन्देह नहीं । किसी किसी का स्वभाव ही ऐसा होता है—क्रमशः मैं यह समझ रहा हूँ । यह सत्य है कि हम सभी सुख के पीछे दौड़ रहे हैं, किन्तु कोई कोई व्यक्ति दुःख के अन्दर ही आनन्दानुभव करते हैं— क्या यह विचित्र नहीं है ? इसमें हानि कुछ भी नहीं; केवल विचार करने की बात इतनी ही है कि सुख-दुख दोनों ही संक्रामक हैं । इंगरसोल ने एक बार कहा था कि यदि वे भगवान होते, तो रोगों को संक्रामक न बना कर वे स्वास्थ्य को ही संक्रामक बनाते । किन्तु स्वास्थ्य भी रोगों की तुलना में समान भाव से संक्रामक है— यह महत्वपूर्ण बात एक बार भी उनके ध्यान में नहीं आयी । यही तो कठिनाई है । मेरे व्यक्तिगत सुख-दुःख से जगत् का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं—केवल मुझे इतना ही देखना है कि वे दूसरों में संक्रमित न हों । यही

एक महान् तथ्य है। ज्यों ही कोई महापुरुष किसी दूसरे मनुष्य की अवस्था से दुखी होते हैं, तो वे गम्भीर बन जाते हैं, अपनी छाती पीटने लगते हैं और सबको बुलाकर कहते हैं, 'तुम लोग इमली का पना पिओ, अंगार फाँको, शरीर पर राख मलकर गोबर के ढेर पर बैठे रहो और आँखों में आँसू भरकर करुण स्वर से विलाप करते रहो।' मुझे ऐसा दिखायी दे रहा है कि उन सभी में त्रुटियाँ थीं—वास्तव में थीं। यदि जगत् के बोझ को अपने कन्धों पर लेने के लिए तुम यथार्थतः प्रस्तुत हो, तो उसे अवश्य ग्रहण करो; किन्तु यह ख्याल रखो कि तुम्हारा विलाप एवं अभिशाप हमें सुनायी न दे। तुम अपनी यातनाओं के द्वारा हमें इस प्रकार भयभीत न करो कि अन्त में हमें यह सोचना पड़े कि तुम्हारे निकट न जाकर, बल्कि अपने दुःख के बोझ को लेकर स्वयं बैठे रहना ही हमारे लिए कहीं ज्यादा अच्छा था। जो व्यक्ति यथार्थ में जगत् का बोझ अपने ऊपर लेता है, वह तो जगत् को आशीर्वाद देता हुआ अपने मार्ग में अग्रसर होता है। वह न तो किसी की निन्दा करता है और न समालोचना ही; इस कारण नहीं कि जगत् में पाप का कोई अस्तित्व ही नहीं है; प्रत्युत इसलिए कि उसने स्वेच्छापूर्वक, स्वतः प्रवृत्त होकर उसे अपने ऊपर लिया है। वह मुक्तिदाता ही है, जिसे अपने मार्ग पर आनन्दपूर्वक चलना चाहिए, न कि जो मुक्त हुआ है।

आज प्रातःकाल केवल यही सत्य मेरे सम्मुख प्रकाशित हुआ है। यदि यह भाव स्थायी रूप से मेरे अन्दर आकर मेरे समग्र जीवन में छा जाय तभी ठीक होगा। दुःख के बोझ से जर्जरित जो जहाँ कहीं भी

हो, चले आओ, अपना सारा बोझ मुझे देकर तुम जो इच्छा करो, सुखी बनो और यह भूल जाओ कि मेरा अस्तित्व कभी था।

सदा प्यार के साथ,

तुम्हारा पिता,
विवेकानन्द

○

सुख और दुःख

मनुष्य जो सुख की आशा करता है, वह और कुछ नहीं, उसका जो साम्यभाव खो गया है, उसी को पाने का प्रयास है। नीति का पालन भी बद्धभावापन्न इच्छा द्वारा मुक्ति का प्रयास है। और इसी से प्रमाणित होता है कि हम अपनी पूर्ण अवस्था से नीचे उतरे हैं।

यदि दुःख-आपदा आये तो सोचो कि ईश्वर तुम्हारे साथ खेल कर रहे हैं और यही जानकर दुःख के भीतर भी परम सुख का अनुभव करो। जो आत्मा जितनी ही उन्नत है उसके सुख के पश्चात् उतनी ही शीघ्रता से दुःख आता है। हम चाहते हैं, सुख और दुःख के परे की अवस्था में जाना। इन दोनों के पीछे आत्मा विद्यमान है, जिसमें सुख भी नहीं है और दुःख भी नहीं है। सुख-दुःख अवस्थाविशेष का नाम है और सभी अवस्थाएँ सदा परिवर्तनशील हैं; परन्तु आत्मा अपरिणामी, शान्तिस्वरूप एवं आनन्दमय है।

—स्वामी विवेकानन्द

प्रभु के जीवन्त सान्निध्य में

भगिनी देवमाता

(लेखिका एक अमरीकी महिला थीं जिनका सारा जीवन वेदान्त के प्रचार-प्रसार के कार्य में बीता। वे 'डेज़ इन एन इंडियन मॉनेस्टरीज़', 'श्रीरामकृष्ण एण्ड हिज़ डिसायपल्स' आदि अनेक ग्रन्थों की रचयिता हैं। प्रस्तुत लेख 'The Living presence' का हिन्दी रूपान्तर है, जिसमें उन्होंने श्रीरामकृष्ण देव के सम्बन्ध में हुए अपने दर्शनों तथा अंतरंग पवित्र अनुभवों का वर्णन किया है। यह लेख श्रीरामकृष्ण देव की जन्म शताब्दी के अवसर पर अंग्रेजी मासिक 'वेदान्त केसरी' के १९३६ के फरवरी-मार्च अंक में प्रकाशित हुआ था, जहाँ से यह साभार गृहीत हुआ है। इसके रूपान्तरकार हैं स्वामी निखिलेश्वरानन्द, जो सम्प्रति रामकृष्ण आश्रम, राजकोट के कार्यरत हैं। —स)

दिन ढलने को है। गोधूलि के समय की शान्ति मेरे चित्त में व्याप्त है। सन्ध्या की परछाइयाँ मेरे आसपास पड़ रही हैं। रामकृष्ण मिशन की सदस्या के रूप में गत तीस वर्षों से भी अधिक की अपनी सक्रिय सेवा-वीथी से मैं अपने विगत जीवन का सिंहावलोकन करती हूँ। मैं जो कुछ अभी लिख रही हूँ, मैंने सोचा था, उसे चिरकाल के लिए अकथ्य ही रहने दूं। इन अनुभूतियों को जो इतनी पुनीत तथा निजी हैं, कि इनका उच्चारण मैंने एक व्यक्ति के अलावा कभी किसी के समक्ष नहीं किया है, इन पृष्ठों में मुद्रित करने में मैं संकोच का अनुभव कर रही हूँ; किन्तु संसार के महापुरुषों से सम्बन्धित अनुभूतियाँ छिपी नहीं रह सकतीं, क्योंकि वे किसी व्यक्ति विशेष की न होकर मानव मात्र की निधि है।

मुझे स्मरण होता है, कुछ वर्षों पूर्व संत पाल के विषय

में एक पत्र पाया गया था। यह पत्र एक अज्ञात ईसाई के द्वारा नये धर्म के अनुयायी एक अज्ञात व्यक्ति को लिखा गया था। उसमें लिखा था कि पत्र-लेखक ने किस प्रकार अपना सारा दिन शहर के द्वार पर नाजरीन के उपदेशक के आने की प्रतीक्षा में बिताया था। उसने अपेक्षा की थी घोड़े पर सवार एक भव्य आकृति को प्रवेश करते हुए देखने की, पर जब उसने भीड़ में एक धनुषाकार पैर वाले, ठिगने, तथा तोते की सी नाक वाले व्यक्ति को आते देखा तो उसे गहरी निराशा हुई। ये थे महान् सन्त पाल।

उस पत्र लेखक का पूर्णतः विस्मरण हो चुका है किन्तु क्रूसविद्ध ईसा के उस महान् शिष्य का चित्र अब भी आँखों के समक्ष स्पष्ट तथा सजीव है। इसलिए मैं आशा करती हूँ कि जीवन्त सान्निध्य की अनुभूति करने वाली इस लेखिका को भुला दिया जायगा, किन्तु जिनकी अपरोक्ष अनुभूति हुई थी, उन अवतार पुरुषों की उदारता तथा महिमा के प्रमाणस्वरूप यह सान्निध्य केवल स्मृतियों के झरोखे में रह जायगा।

मेरा कार्य स्वयं-अभिप्रेत नहीं है। बाहर तथा भीतर की निरन्तर स्फुरणा, मुझे विवश करती रही है। स्वामी शिवानन्दजी, जो कई वर्षों तक हमारे संघ के अध्यक्ष रहे, का एक पत्र भी इस बात की दृढ़ सम्पुष्टि करता है। पत्र इस प्रकार है–

"प्रिय भगिनी देवमाता,

मैं तुम्हारा पत्र पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ हूँ जो कि तुम्हारे कार्य-प्रवेश की तीसवीं जयन्ती के बादवाले दिन २० तारीख को लिखा गया था। तुम्हारा पत्र तुम्हारे कार्य के बारे में सब कुछ बतलाता है तथा मैं यह सोचकर

प्रसन्न हूँ कि तुम कितने निःस्वार्थ भाव से इस कार्य को चाहती हो। मैं जानता हूँ कि तुमने इसमें कितनी महान भूमिका निभायी है और अब भी अपने इस क्षीण देह के द्वारा किन्तु विश्वास में क्रमशः दृढ़तर होते हुए मन के द्वारा निभा रही हो। तुम्हारा इस कार्य के साथ सम्बन्ध केवल तीस वर्षों का ही नहीं है, अपितु मेरा विश्वास है कि तुम्हारा सम्पूर्ण अस्तित्व इससे सम्बन्धित है। प्रवर्तकों का जन्म कोई साधारण जन्म नहीं होता किन्तु वे एक आन्दोलन के आविर्भाव के साथ आते हैं। इस आविर्भाव के पर्दे के पीछे रंगमंच तैयार होता है। जैसे ही पर्दा उठता है, विभिन्न क्षेत्रों तथा देशों में एक के बाद एक पात्र आकर अपनी-अपनी भूमिका निभाते हैं। तुम उनमें से एक हो। उन लोगों की विशेषताएँ हैं कि उनका हृदय उन्हें आन्दोलन में जुड़ने के लिए प्रेरित करता है और उतार-चढ़ाव के समय में भी वे पूर्ण विश्वास से इसके सहभागी बनते हैं। अतः मेरे विचार में कार्य के साथ तथा स्वामी परमानन्द के साथ तुम्हारा सम्बन्ध श्रीराम-कृष्णदेव की इच्छा से ही हुआ है। तुम धन्य हो। जब तक उनका नाम यहाँ सम्मानित होगा तब तक तुम अमर रहोगी।"

अवतारों के बारे में लिखनेवाले लोग साधारण अभिलेखक होते हैं साहित्यकार नहीं। उनका कर्तव्य होता है कि वे परम्परा को बनाये रखें ताकि ईश्वर के महान् दूत लोगों के हृदय में चिरकाल तक बने रहें। मेरे दर्शनों को अभिव्यक्त करने के पीछे मेरा यही उद्देश्य है। ये मानसिक दर्शन नहीं थे, और न ही स्वप्न थे, वे कल्पनायें भी नहीं थीं और न ही दर्शनों में आने वाले

वे अवतार पुरुष एक आभास मात्र थे। वे थे एक जीवन्त महापुरुष–एक स्पन्दशील सन्निधान। उनकी काया की कान्ति तथा उष्णता स्पष्ट प्रतीत होती थी और जब उनका आगमन हुआ तब मेरी काया में भी एक विचित्र अस्वाभाविक आभा उतर आयी। ऐसा प्रतीत होता था मानो एक उज्जवल ज्योति मेरे मन, हृदय, यहाँ तक कि देह के प्रत्येक अणु में फैल गयी है। कभी यह ज्योति मानो उनके आगमन की सूचना देने के लिए उनसे पहले आयी, कभी-कभी उनके साथ आयी किन्तु सर्वदा इसका प्रभाव कई घण्टों, यहाँ तक कि कई दिनों तक बना रहा।

यदि प्राचीन भारत के ऋषियों ने या मध्य यूरोप क सन्तों ने या परम तत्त्व के दर्शन करनेवालों ने अपनी-अपनी अनुभूतियों को अपने हृदय की गुहा में बन्द कर उन्हें गोपनीय रखा होता तो इससे संसार की अपार हानि होती। यहाँ तक कि साधारण भक्तों की अनुभूति भी, मनुष्यों की श्रद्धा को दृढ़ कर उन्हें अग्रसर होने के लिए साहस जुटाने में मूल्यवान होती है।

अतः अब जीवन की सन्ध्या में, मैं वर्षों का मौन भंग कर अपने जीवन की आध्यात्मिक अनुभूति को प्रकट कर रही हूँ, इस आशा से कि इसके द्वारा दूसरे लोग भी संसार में अवतरित इस श्रेष्ठ मसीहा की असीम करुणा तथा आध्यात्मिक महिमा की स्पष्टतर अनुभूति पाने में समर्थ हो सकेंगे।

(१)

माँ श्रीसारदादेवी, श्रीरामकृष्णदेव के अन्तर्धान होने के बाद भी दीर्घकाल तक भौतिक देह में रहीं। श्रीरामकृष्णदेव के अन्तर्धान के बाद जब वे अपनी चूड़ियाँ उतार

रही थीं और एक विधवा के अनुरूप बिना किनारीवाली साड़ी पहनने के लिए प्रस्तुत हो रही थीं तब श्रीरामकृष्णदेव ने प्रकट होकर उन्हें उलाहना देते हुए कहा– अरे, यह क्या कर रही हो? क्या तुम समझती हो कि मैं मर चुका हूँ?" तब उन्होंने चुपचाप अपनी चूड़ियाँ और किनारीवाली साड़ी पहन ली। उनका वैधव्य समाप्त हो गया।

इस जीवन्त सान्निध्य के प्रमाण अन्यान्य साधारण लोगों ने भी पाये थे। इनमें से कुछ का अब मैं वर्णन करूँगी।

मैं न्यूयार्क के व्यस्त जीवन से भागकर बोस्टन के शान्त वातावरण में चली गयी थी तथा एकान्त में चुपचाप अपने दिन बिता रही थी। एक दिन दोपहर में जब मैं अपने कमरे में अकेली बैठकर अपने लक्ष्यहीन भविष्य के बारे में चिन्ता कर रही थी तभी अचानक दो आकृतियाँ मेरे सम्मुख उपस्थित हो गयीं। उनमें से एक का चेहरा अपार्थिव मुस्कान से दीप्तिमान था, जो मानो उसकी पूरी काया पर आभा बिखेर रहा था। शान्त भाव से उस आकृति ने ये शब्द कहे : "चिन्ता मत करो। तुम्हें मेरे लिए कार्य करना है।" उसके बाद दोनों आकृतियाँ विलीन हो गयीं, किन्तु उनकी उपस्थिति का भाव कई दिनों तक मुझमें बना रहा।

वसन्त ऋतु आते ही मैं न्यूयार्क वापस लौट गयी और तुरन्त बाद ही वेदान्त सोसायटी की सदस्या बन गयी, जहाँ मुझे प्रकाशन विभाग का भार सौंपा गया। उस समय पुस्तकें लगातार प्रकाशित होते रहने के कारण मैं बहुत व्यस्त रहा करती थी तथा कार्याध्यक्ष के पास

बारम्बार परामर्श लेने जाती थी। एक अपराह्न में उन्होंने एक नये प्रकाशन के सम्बन्ध में बातचीत करने के लिए मुझे अपने निजी कक्ष में बुलाया। कक्ष में प्रवेश करने के समय मेरी दृष्टि अंगीठी के ऊपर टँगे चित्र पर पड़ी। मैं स्तब्ध खड़ी रह गयी। यह वही रूप था जिसे मैंने बोस्टन में देखा था। मैंने तुरन्त अंगीठी के पास जाकर अधीरता से पूछा– "यह किसका चित्र है?" कार्याध्यक्ष ने धीरे से उत्तर दिया–"ये हैं मेरे गुरुदेव श्रीरामकृष्ण।"

एक वर्ष बीता, श्रीरामकृष्णदेव का जन्मोत्सव निकट आया। न्यूयार्क वेदान्त सोसायटी में यह उत्सव उस वर्ष तपस्यापूर्ण ढंग से मनाया गया था। जिन पचास-साठ सदस्यों ने इस उत्सव में भाग लिया था, उनमें से शायद ही किसी ने तिथिपूजा के पिछले दिन सूर्यास्त के पहले से लेकर उस दिन सूर्यास्त के बाद तक भोजन या जल ग्रहण किया होगा। यह उपवास शारीरिक कष्ट के लिए नहीं अपितु आत्मिक उन्नति के लिए किया गया था। सारा दिन हम लोगों ने अध्ययन कक्ष में, बिना दरी या गद्दी के खाली फर्श पर बैठकर ध्यान प्रार्थना तथा स्वाध्याय में बिताया। बीच-बीच में अल्पावकाश होता था, किन्तु प्रत्येक के हृदय में पवित्र मौन विराजमान था। आपस में बातचीत बहुत ही कम होती थी, जो होती वह भी दबी हुई आवाज में।

वातावरण उत्साह से परिपूर्ण था। प्रार्थना की अन्तिम घड़ी आ पहुँची थी। हम लोगों से कहा गया था कि इस घड़ी में हम जो कुछ माँगेंगे, हमें मिल जायगा। मैं सोच नहीं पा रही थी कि क्या माँगूँ? कोई भी इच्छा मेरे मन में नहीं उठी, एकमात्र इच्छा हुई– श्रीराम-

कृष्णदेव का पुनः दर्शन पाने की। कमरे में स्तब्ध-नीरवता थी। मेरे मन में उत्कण्ठा हुई, अपनी आँखों को खोलने की। ज्योंही मैंने आँखें खोलीं तो देखा— वहाँ वेदी पर पूजा के लिए लाये गये पुष्पों के बीच वही प्रत्यक्ष सन्निधान (श्रीरामकृष्णदेव) दण्डायमान थे।

यह रूप वही था, जिसका दर्शन मुझे बोस्टन में हुआ था, तथापि यह ठीक वैसा ही नहीं था, क्योंकि यह रूप लम्बे धवल वस्त्रों द्वारा आच्छादित था और देह तथा वस्त्र इतने जाज्वल्यमान तथा पारदर्शी थे कि मैं उन्हें भेदकर पीछे रखे पुष्पों की अस्पष्ट रूपरेखा देख पा रही थी। किन्तु चेहरे पर वही मुस्कान थी तथा उसमें से वही शक्ति एवं कल्याणमय आशीर्वाद निःसृत हो रहा था। वह आकृति आशीर्वाद की मुद्रा में हाथों को उठाये कुछ क्षणों तक रह कर अन्तर्धान हो गयी। मैंने चारों ओर देखा। सभी की आँखें बन्द थीं। क्या कोई अन्य भी उन्हें देख पाया था?

(२)

शरत्काल में मैंने कठोर आध्यात्मिक साधना सत्र में प्रवेश लिया। इसमें अत्यधिक नियमितता, परिमित आहार तथा विशेषतः कठोर व्रत लेने की आवश्यकता थी। जिस प्रकार जहाज का कप्तान अपनी यात्रा का मानचित्र बनाता है, उसी प्रकार मैंने भी अपनी दिनचर्या बनायी। मैं भोर में उठ जाती; स्वल्प आहार लेती। साधना के लिए तथा प्रकाशन विभाग के कार्यों के लिए (जिसमें सम्पादन, टाइपिंग, प्रूफ आदि देखने के कार्य शामिल थे) भी समय निश्चित थे।

मेरा कुछ समय बाहर व्यतीत होता था और कुछ

सोसायटी के भवन के भीतर, प्रकाशन विभाग के कार्य तथा पुस्तकों की माँग पूरी करने में व्यतीत होता था। मैं उत्साह और आत्म-विश्वास से परिपूर्ण थी, किन्तु मेरे हृदय में एक दुःख था।

मैं जो साधना कर रही थी, उसमें आसन, प्राणायाम, एकाग्रता तथा ध्यान का अभ्यास शामिल था। यह अन्तिम विषय ही मेरे दुःख का कारण था। जीवन की इस नयी योजना के पूर्व मैंने श्रीरामकृष्णदेव को ही अपने ध्यान का विषय बनाया था। किन्तु अब ध्यान का जो नया विषय दिया गया था, वह शुष्क तथा नीरस लग रहा था। कई सप्ताह तक तो मैंने यों ही किसी प्रकार चलाया। फिर मैंने कार्याध्यक्ष से, जो मेरी साधना के निर्देशक थे, इस सम्बन्ध में निवेदन किया। इन्होंने मुझे तुरन्त पहले के अनुरूप ही ध्यान करने का निर्देश दिया।

मैं सोसायटी भवन से कुछ ही दूर पर अवस्थित एक सुन्दर मकान में रहा करती थी। उसमें मैंने एक निजी उपासना-गृह बना रखा था। उस दिन रात में मैंने एक नवीन उत्कण्ठा से उसमें प्रवेश किया। मैंने ज्योंही वेदी के सामने बैठकर अपनी साधना का अभ्यास प्रारम्भ किया तथा ध्यान करने की चेष्टा की, तभी श्रीराम-कृष्णदेव मेरे सम्मुख प्रकट हो गये। वे बोस्टन या तिथि-पूजा के दिन वाले श्रीरामकृष्णदेव नहीं थे, अपितु जग-मगाते वस्त्रों से सुसज्जित, शुद्ध ज्योति से निर्मित वे एक विशालकाय रूप में थे। मैं सम्भ्रमित होकर लुण्ठित हो पड़ी। फिर धीरे-धीरे सरकते हुए मैं उनके निकट जा पहुँची और अपना मस्तक मैंने उनके श्रीचरणों में रख दिया। इसके बाद मेरा बाह्यज्ञान लुप्त हो गया। जब मुझे होश

आया तब पता लगा कि मैं एक घण्टे से भी अधिक देर तक वेदी के सामने पड़ी थी। उस समय के दौरान क्या घटा, मैं कभी भी न जान पाऊँगी; किन्तु इसने मुझे जीवन के प्रति एक नयी दृष्टि दी तथा हृदय में नया प्रकाश भर दिया।

दूसरे दिन सायंकाल ध्यान के समय पुनः श्रीरामकृष्णदेव मेरे सम्मुख अपने स्वाभाविक रूप में, किन्तु उज्जवल ज्योति से आवृत्त होकर प्रकट हुए। जब मैं विस्मित हो भक्तिपूर्वक उनकी ओर निहार रही थी, तभी उन्होंने अपनी काया एक वस्त्र की भाँति त्याग दी और केवल ज्योतिर्मय शरीर में खड़े रहे। पर वे प्रथम दर्शन की अपेक्षा कम अभिभूतकारी तथा विस्मयजनक प्रतीत हो रहे थे। सुवास की भाँति एक सूक्ष्म कोमलता का भाव उनके आसपास व्याप रहा था, जिससे मेरे मन से भय एवं विस्मय की सारी भावना दूर हो गयी।

तीसरे दिन वे पुनः प्रार्थना के समय प्रकट हुए। अँगीठी पर टँगे जिस चित्र के द्वारा मुझे पहली बार उनके बारे में पता लगा था, वे उसी के समान लग रहे थे; किन्तु उनकी देह एक लालटेन की भाँति लगी, जिसमें एक जाज्वल्यमान शिखा उनके चारों ओर प्रकाश की विस्तृत किरणें बिखेरती हुई जल रही थी। इस अवसर पर अथवा इसके पूर्व के अवसर पर किसी शब्द का उच्चारण नहीं हुआ था; किन्तु अर्थपूर्ण मौन के माध्यम से मैंने समझ लिया कि श्रीरामकृष्णदेव एक प्रत्यक्ष सन्निधान थे, जो प्रेम के वशीभूत होकर लोगों पर करुणा करने, उन्हें सहायता करने, उन्हें मार्गदर्शन देने तथा उनकी रक्षा करने के लिए चाहे पार्थिव शरीर धारणकर हो, अथवा

अपार्थिव महिमा में प्रतिष्ठित होकर, लोगों के बीच विचरण कर रहे थे।

(३)

चार माह बाद, फरवरी में, मुझे श्रीरामकृष्णदेव के उपदेशों के संकलन का कार्य-भार दिया गया, जो वस्तुतः कार्याध्यक्ष के कन्धों पर था, किन्तु इसके लिए उन्हें अवकाश नहीं था। अन्य कोई भी कार्य मेरे लिए इतना प्रिय नहीं हो सकता था। मैं उत्साहपूर्वक इस कार्य में जुट गयी। मैंने पुरानी पत्रिकाओं की बड़ी-बड़ी फाइलों में प्रत्येक कालम को देखना प्रारम्भ किया और श्रीरामकृष्णदेव द्वारा कथित, अथवा किसी अन्य की स्मृति-कथा में लिपिबद्ध उनके शब्दों या वाक्यों को ढूँढ़ने लगी।

मैंने सावधानीपूर्वक कई छोटे-छोटे संकलन पढ़े, जिनमें से कुछ अब अनुपलब्ध (Out of Print) हैं। मैंने सभी सम्भव स्रोतों को देखकर, अन्त में लगभग सात सौ उपदेशों को एकत्रित किया। इन सभी को शृंखलाबद्ध क्रम में न रखकर पुस्तक के रूप में प्रकाशित करना मुझे बुद्धिमानी का कार्य नहीं लगा। इसलिए मैंने निर्णय लिया कि उन्हें उचित शीर्षकों के अन्तर्गत विभिन्न अध्यायों में विभाजित कर जहाँ तक सम्भव हो सिलसिलेवार सजाऊँगी।

यह दीर्घ तथा अविश्रान्त परिश्रम का कार्य था, तथापि मैं इसे एक घण्टे के लिए भी छोड़ने को तैयार नहीं थी। मैं भोर में उठती तथा रात में देर तक कार्य में लगी रहती। मैं उपदेशों को बारम्बार पढ़ती तथा प्रत्येक बार उनमें से समान प्रकार के उपदेशों को चुनकर किसी एक अध्याय में या किसी एक शीर्षक के अन्तर्गत

सजाने का प्रयत्न करती । इस प्रकार का वर्गीकरण इसके पहले कभी नहीं किया गया था, अतः मैं एक मौलिक कार्य कर रही थी । दिन पर दिन ये ज्वलन्त उपदेश मेरे अन्तराल में प्रविष्ट होते गये । मैं इनके ताल पर चलती, इन्हीं के बारे में सोचते-सोचते खाती तथा इन्हीं को ओठों पर रखकर सोती और इस प्रकार मैं इनमें पूर्णतः डूब गयी ।

वसन्त ऋतु का आगमन हुआ, अप्रैल का महीना आ गया । उपदेशों के नवीन संकलन को मैंने ग्रीष्म ऋतु के पहले प्रकाशित करने का वादा किया था । पाण्डुलिपि का कार्य समाप्तप्राय था । एक दिन सुबह जब मैं इस कार्य में लगी हुई थी, तभी अचानक मुझे अपने कन्धे पर थपकी का अनुभव हुआ । उस समय कमरे में मैं अकेली थी, अतः सोचा कि शायद झरोखे से ओस की बूंदें टपक रही होंगी । वास्तव में मेरा कमरा मानो एक स्टुडियो ही था । ओस की बूंदों को हटाने के उद्देश्य से मैंने हाथ ऊपर उठाया और टाइपिंग का कार्य जारी रखा । पुनः मुझे उसी थपकी का अनुभव हुआ । निःसन्देह यह मानवीय स्पर्श था । चौंककर मैंने पीछे मुड़कर देखा– साक्षात् श्रीरामकृष्णदेव मेरे ठीक पीछे बायीं ओर दण्डायमान थे । चित्र में जैसे दिखते हैं, वे ठीक वैसे ही दिख रहे थे और अत्यन्त सजीव प्रतीत हो रहे थे । मेरे कन्धे पर उन्होंने जो हाथ रखा था मुझे मानो उसकी उष्णता का अनुभव हो रहा था । उनके श्रीअंग से कोई ज्योति निःसृत नहीं हो रही थी, केवल उनके मुस्कान की प्रभा उन्हें आलोकित किये हुए थी । वे जीवन्त मनुष्य के सदृश ही अधिक प्रतीत हो रहे थे । कुछ क्षणों के बाद वे अन्तर्धान हो गये ।

जिस प्रकार यह अनुमान करना सम्भव नहीं है कि

फूल कैसे खिलते हैं या पत्ते कैसे निकलते हैं, वृक्ष या पौधे ही यह रहस्य समझते हैं; उसी प्रकार मैं कभी भी न समझ पायी, कि यह सन्निधान कैसे आया या कैसे गया। वह अभी था और अभी चला गया। उसके आगमन या निर्गमन की प्रक्रिया कभी भी ज्ञात नहीं हुई। अविशेन्ना के ये शब्द इसका सर्वोत्तम वर्णन करते हैं– "यह मैदान पर विद्युत के त्वरित प्रकाश की भाँति था जो चमककर इस प्रकार विलुप्त हो जाता है जैसे मानो वह कभी था ही नहीं।" किन्तु इस सान्निध्य की चमक अवश्य दीर्घ-काल तक बनी रही।

(४)

इसके पश्चात् मेरा जीवन भ्रमणशील हो गया। सुदूर पूर्व में अवस्थित भारतवर्ष से लेकर पश्चिम में अवस्थित केलिफोर्निया तक मैं भ्रमण करती; बीच-बीच में कुछ केन्द्रों में कार्यवश दीर्घकाल रुकती। सन् १९२३ में स्वामी परमानन्दजी ने, लॉस एन्जेलिस के पास अवस्थित सियेरा मेंडररेंज की पहाड़ी पर आनन्द आश्रम की स्थापना की। इसकी स्थापना बोस्टन के वेदान्त सेन्टर की शाखा के रूप में ही हुई थी, जहाँ मैंने कई वर्षों तक स्वामी परमानन्दजी की सहायिका के रूप में कार्य किया। इसी हैसियत से मैंने नये आश्रम में रहना शुरू किया।

धीरे-धीरे कई भवनों का निर्माण हुआ जिसमें विश्वात्मा (श्रीरामकृष्णदेव) को समर्पित एक चित्ता-कर्षक मन्दिर भी शामिल था। प्रत्येक दिन रात में जब, सब अन्तेवासी सो जाते, तब मैं मन्दिर के गर्भगृह में प्रार्थना के लिए जाती। इस प्रकार एक बार बहुत रात गये, मैं सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर की मंजिल पर गयी और जाकर

बाजू वाले दरवाजे को खोला। प्रवेश करते समय यह मुझे बहुत बड़ा, अत्यन्त अन्धकारपूर्ण और अतीव शान्त प्रतीत हुआ। बाहरी शून्यता से मुक्त हो, भीतर के मद्धिम प्रकाशमय गर्भगृह के अधिक सुरक्षित स्थान में पहुँचकर मैं प्रसन्न हो गयी।

वेदी के सामने घुटनों के बल बैठकर मैं जप करने लगी। नहीं जानती कि मैं कितनी देर इस प्रकार बैठी रही। इतने में बिना किसी आवाज के अति स्वाभाविक रूप से वेदी के पीछे की दीवार खिसक गयी। बिना अचरज या विस्मय के, मेरे नेत्र दूर की पहाड़ियों की वीथिका पर टिक गये। इस प्रकार दिखना मुझे किसी भी प्रकार अस्वाभाविक नहीं लगा। एक पहाड़ी से दूसरी पहाड़ी तक घूमती हुई मेरी दृष्टि उच्चतम शिखर पर अवस्थित जाज्वल्यमान ज्योति की ओर आकर्षित हुई। ज्योति के बीचोबीच जीवन्त सन्निधान (श्रीरामकृष्णदेव) दण्डायमान थे। उनके श्रीअंग पर एक लम्बी शाल थी, जिसका रंग जाज्वल्यमान प्रकाश से एकीभूत हो रहा था, चेहरा अपार्थिव ज्योति से दीप्तिमान था तथा वे हाथ फैलाये हुए मंगलमय आशीर्वाद की वर्षा कर रहे थे।

वह आकृति एक क्षण के लिए वहाँ पर खड़ी रही, बाद में मन्दिर की ओर उतरने लगी। उसने पहाड़ी के ढाल पर के पथ का अनुसरण नहीं किया, किन्तु ज्योति के प्रत्यक्ष पथ पर चलना शुरू किया। जैसे-जैसे यह आकृति पास आयी, मैं समझ गयी कि जिस ज्योति द्वारा पथ का निर्माण हुआ था, वह उन्हीं के श्रीचरणों से निर्मित हुई थी। ज्योतिर्मय पथ पर यह सन्निधान उतरता गया— भव्य, शान्त तथा विस्मयकारी, किन्तु इस प्रकार स्निग्ध

स्नेह का वर्षण करता हुआ कि विस्मय या भय की सारी भावना लुप्त हो गयी।

यह सन्निधान धीरे-धीरे मन्दिर तक पहुँचा, सरकी हुई खुली दीवालों से होकर उसने गर्भगृह में प्रवेश किया और वेदी पर हाथ रखते हुए उसके पास अपना स्थान ग्रहण किया। रूपान्तरकारी ज्योति घनीभूत हुई और पहाड़ी की चोटी पर अवस्थित श्रीरामकृष्ण पार्थिव देहधारी श्रीरामकृष्ण हो गये। अपने जीवनकाल में वे जैसे दिखते थे, ठीक वैसे ही प्रतीत हो रहे थे। कुछ क्षणों तक मुस्कराते हुए वे मौन खड़े रहे। बाद में उन्होंने बोलना प्रारम्भ किया। उन्होंने जो कुछ कहा, वह कानों को नहीं, हृदय को कहा गया था और जिसने सुना उसी के लिए कहा गया था।

जब मैंने गर्भगृह छोड़ा, तब बहुत देर हो चुकी थी। वह रूप अभी भी वेदी के पास दण्डायमान था और चार दिनों तक जब भी मैं पूजा के समय मन्दिर जाती, तो उसे देखती। जो लोग प्रार्थना कर रहे थे, वह रूप उनसे अधिक वास्तविक तथा ज्योतिर्मय दीखता था। उसकी उपस्थिति के कारण मन्दिर में आध्यात्मिक शक्ति का संचार हो गया था।

इस तथा श्रीरामकृष्णदेव के परवर्ती आगमन के बीच कई वर्ष बीत गये। यह अन्तराल केवल वर्णन में प्रतीत होता है। कुछ महत्त्वपूर्ण अनुभव इस अवधि में शामिल हैं। मेरे दैनन्दिन जीवन के साथ सान्निध्य के इस घनिष्ठ सम्बन्ध को शब्दों में व्यक्त करना असम्भव है। उन्होंने मुझे सुरक्षा प्रदान की, मार्गदर्शन किया तथा इस प्रकार स्नेह के आँचल में बाँध लिया, जिससे मुझे एक नया जीवन मिला। मेरी

सारी व्यथा दूर हो गयी, तथा जीवन मधुमय हो गया। इन सबके बदले उन्होंने केवल एक ही वस्तु चाही—नम्र हृदय की भक्ति।

मैं अभी भी आनन्द आश्रम में रह रही थी। केलिफोर्निया में शीतकाल की रातें अत्यन्त ठण्डी तथा अधिकतर तूफानी रहती हैं। अनियमित खराब मौसम से बचने के लिए, मुझे प्रार्थना के लिए अधिक रात में मन्दिर जाना छोड़ देना पड़ा और मैं अपने अध्ययन कक्ष के पास ही एक निजी उपासना-गृह बनाने को बाध्य हुई। गृह के जिस भाग में मैं अकेली रहती थी, वहाँ तीन कमरे थे, उन्हीं में से एक में यह उपासना-गृह बनाया गया। मन्दिर बनने के पूर्व आश्रम का पूजाघर यहीं पर था। नये मन्दिर में पूजाघर के चले जाने के बाद यह कमरा खाली पड़ा था।।

यूरोप में मेरे दस वर्षों के निवास ने उपासना-गृह को सुन्दर बनाने के लिए विभिन्न वस्तुओं का संग्रह करने में मुझे समर्थ बनाया था। उनमें सैकड़ों वर्ष पुराना एक दुर्लभ पर्दा था जो किसी स्पेनिश चर्च की वेदी पर टँगा रहता था। यह सालामान्का के संन्यासियों द्वारा बुना गया था; बेलबूटे का कार्य भी उन्होंने ही किया था। बेलबूटे के रेशम का उत्पादन भी उन्हीं के यहाँ के रेशम कीड़ों के द्वारा हुआ था। यह पर्दा वातावरण को पवित्र बनाने में सहायक था। लगता था, पवित्रता से परिपूर्ण यह पर्दा उसी स्थान के लिए निर्मित हुआ था जहाँ वह वेदी की दीवार के पीछे रखा गया था।

जब उपासना-गृह बनकर तैयार हो गया तब वह इतना सुन्दर तथा आध्यात्मिक शक्ति से परिपूर्ण हो गया कि मैं इसे अपने आप तक सीमित नहीं रख सकी। मैं

इसे सबको दिखाने लगी। जिसने भी इसे देखा वह अपने मित्रों को बुलाकर दिखाने ले आया। जिन्होंने भी इसके बारे में सुना उन्होंने इसे देखने की अभिलाषा प्रकट की। कई लोग आये किन्तु उनमें से एक भी ऐसा नहीं था, जिसने वहाँ वेदी के पास कुछ क्षणों तक खड़े रहकर मौन प्रार्थना करके आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए अश्रुपूर्ण नयनों से मुझे धन्यवाद न दिया हो।

किन्तु आश्रम में कुछ लोग थे, जो इस प्रकार इसे सब को निःसंकोच भाव से दिखाने के लिए मेरी आलोचना करते थे। उनको लगता था व्यक्तिगत उपासना गृह व्यक्ति तक ही सीमित रहना चाहिए। उनके विचारों ने मुझे कम परेशान नहीं किया। यह छोटा सा उपासना-गृह मेरे लिए इतना पवित्र था कि इसे दूषित करने में मैं झिझकती थी। मैंने निश्चय किया कि इस द्विधा की मीमांसा ईश्वर से ही कराऊँगी।

मैंने मन्दिर में जाकर मार्ग दर्शन के लिए प्रार्थना की। कोई उत्तर नहीं मिला, किन्तु जब बाद में मैंने उस छोटे से उपासना गृह का दरवाजा खोला तो आश्चर्य से देखा कि साज-सजावट की सभी वस्तुएँ गायब थीं; केवल पर्दा भर रह गया था। पर्दे के सामने श्रीरामकृष्णदेव दण्डायमान थे; चेहरे पर वही दिव्य मुस्कान थी, जो मानों उनका अभिन्न अंग थी। उन्होंने मानों मृदु स्वागत में अपने हाथ बढ़ाये और कहा—"जो भी यहाँ आते हैं उनका मैं इसी प्रकार स्वागत करता हूँ।" अब मैं समझी, क्यों सभी को इस छोटे से उपासना-गृह में आने के बाद एक महान सान्निध्य की अनुभूति होती थी।

(५)

बोनावेन्चुरा ने सन्त फ्रांसिस की जीवनी में लिखा है कि जब सन्त फ्रांसिस की देह पर स्टिगमाटा (ईसा की सूली के क्षत चिह्नों के अनुरूप चिह्न)आये तब वे चिन्ता में पड़ गये कि इस बात को दूसरों को बताये या नहीं। उन्होंने संघ के अन्यान्य विशिष्ट साधुओं को बुलाकर उनका परामर्श माँगा। उनमें से 'इल्युमिनेट्स' नामक एक सन्त ने उत्तर दिया– "भाई, तुम्हें जो अलौकिक अनुभूति मिली है, वह केवल तुम्हारे कल्याण के लिए नहीं, वरन् दूसरों के कल्याण के लिए मिली है। अतः इसे छिपाकर रखना तुम्हारे लिए उचित नहीं।"

आत्मा प्रत्येक मनुष्य के हृदय में विद्यमान है। वह मानव का अविनाशी अंश है। प्रकृति की शक्तियाँ अवश्य नियन्त्रण में है, क्योंकि आत्मा के लिए सब कुछ सम्भव है। तब फिर वह जीवन्त सान्निध्य का रूप धारण कर उस व्यक्ति का चिर साथी क्यों नहीं बन सकता जो भक्ति की प्रगाढ़ता से उसे प्रकट करता है? वह विभिन्न रूपों में, विभिन्न नामों में, विभिन्न प्रकार से प्रकट हो सकता है। यह निर्भर करता है, भक्त की ईश्वर सम्बन्धी धारणा पर। किन्तु यह सन्निधान प्रकट होता है, इसमें कोई सन्दह नहीं।

स्पेन की साध्वी टेरेसा को वह सान्निध्य ईसा मसीह के रूप में तथा श्री रामकृष्ण को वह जगज्जननी के रूप में मिला था। पाल के लिए वह डेमेस्कस(Damascus)के पथ का स्वर था, प्राचीन फ्रांसीसी संघ के जेलान्टी (Zelanti) साधकों के पास वह देवदूत या ईसा मसीह के रूप में आया था। मेरे विनम्र दर्शन में यह प्रकट

हुआ—श्रीरामकृष्णदेव के रूप में, इसलिए नहीं कि मैंने ईसाई-धर्म को त्याग दिया था, वरन् इसलिए कि श्रीराम-कृष्णदेव ने अपनी आन्तरिकता एवं उदारता द्वारा मेरे लिए सभी धर्मों तथा उन सभी के पीछे विराजमान एक-मात्र ईश्वर को और भी अधिक वास्तविक तथा प्राणवान बना दिया था।

इन पृष्ठों पर लिखी अनुभूतियों को विश्लेषण करने का या इनकी व्याख्या करने का प्रयत्न मैंने कभी नहीं किया है। भौतिक शास्त्र तथा खगोल शास्त्र के नये आवि-ष्कारों तथा गणितशास्त्र के अध्ययन ने मुझे यह निःसन्देह सिखा दिया है कि जगत् में ऐसे सूक्ष्मतर नियम तथा शक्तियाँ विद्यमान हैं जो हमारी इन्द्रियों या मन से ज्ञात नहीं हो सकतीं। हम जिस प्रकार के सुनियमित एवं सुविकसित जगत् में रहते हैं उसमें अत्यन्त असम्भव प्रतीत होने वाली बातें भी सम्भव हो सकती है। एक स्पन्दनशील प्रत्यक्ष सन्निधान का प्रकट होना या तिरोहित हो जाना कोई जादुई चमत्कार नहीं है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि मानव देह के सूक्ष्म क्रिया-कलाप या एक छोटे से बीज का विशाल वृक्ष में परिणत होना अथवा शुष्क पहाड़ी पर फूल का खिलना। चमत्कार घटाने के लिए प्रकृति को किसी नियम को तोड़ने की आवश्यकता नहीं होती, केवल एक सूक्ष्मतर नियम का पालन करने की आव-श्यकता होती है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो प्रकृति दृश्यमान जगत् की अवज्ञा कर रही है, किन्तु वास्तव में वह अधिक प्रभावशाली अदृश्य शक्ति को मान्यता दे रही होती है।

सारा जीवन एक चमत्कार ही है। हमारी भूलों में

भी चमत्कार का कुछ अंश विद्यमान है क्योंकि उनसे हम ऐसा पाठ सीखते हैं, जो अन्यथा कदापि नहीं सीख सकते। भविष्य एक रहस्य है, वर्तमान भी एक रहस्य है, जिसके भेद का पता लगाते-लगाते वह अतीत हो जाता है। प्रकृति का कार्य सदा रहस्यमय होता है। प्रकृति अपनी प्रयोग-शालाएँ गोपन में बनाती है, जहाँ केवल उसी की पहुँच है।

वैज्ञानिक लोग प्रकृति को जानने का अथक प्रयत्न कर रहे हैं। इस प्रयत्न के दौरान उन्हें एक ओर तो प्रकाश-वर्ष (Light years) जैसी वृहत् वस्तु तथा दूसरी ओर प्रोटान तथा इलेक्ट्रान जैसी सूक्ष्म वस्तुओं से व्यवहार करना पड़ता है। खगोल शास्त्र तथा भौतिक शास्त्र की धारणाओं में भारी परिवर्तन हो रहा है। समय (Time) स्थान (Space), दूरी (Distance) ईथर (Either) तथा ग्रह-नक्षत्रों के निर्माण आदि के बारे में धारणाएँ अभी भी अनिश्चित हैं। इस बदलते हुए वैज्ञानिक युग में निश्चय ही अनेक अज्ञात एवं अस्वीकृत घटनाओं के लिए स्थान है।

सृष्टि के मूल तत्त्व सूक्ष्म से सूक्ष्मतर अणुओं में विभाजित हो रहे हैं, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर शक्तियों का विमोचन हो रहा है। विज्ञान अध्यात्म के दायरे में आता जा रहा है। सूक्ष्म शक्ति चुपचाप, द्रुत गति से कार्य करती है। वह सरलता से प्रवेश करती है तथा शीघ्रता से रूप धारण करती और विसर्जन करती है। तब फिर यह क्यों सम्भव नहीं होगा कि ईसा फ्लेन्डर्स की युद्धभूमि में प्रकट होकर बहुतों को दर्शन दें या सन्त पॉल को जिस ज्योति ने अभिभूत कर दिया उसमें निहित दिव्यात्मा उनसे बातें

करे या एक दिव्यात्मा सन्त फ्रांसिस के हाथों तथा पैरों में क्रूसबद्ध ईसा के घाव उत्पन्न कर दे ?

जीवन के रहस्य के बारे में मनुष्य उत्तरोत्तर अधिक जान रहा है। वह समय अधिक दूर नहीं जब वह मृत्यु के रहस्य को जान लेगा—क्षुद्र भावुक दर्शन द्वारा नहीं, परखनली या माइक्रोस्कोप द्वारा नहीं, वरन् सूक्ष्म नियमों को प्रकट करके। इन नियमों का अवलोकन कर मानव सीख लेगा कि पृथ्वी पर मनुष्यों के बीच अत्यन्त संवेदनशील एवं अत्यन्त आध्यात्मिक एक महान् विभूति का सशरीर या अशरीर एक प्रत्यक्ष सन्निधान के रूप में विचरण करना प्रकृति के विरुद्ध कदापि नहीं है।

o

श्रीरामकृष्णवचनामृत-प्रसंग

इकतीसवाँ प्रवचन

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलुड़ मठ के महाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत-प्रसंग' के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं।—स.)

जीव की स्वतन्त्रता और परतन्त्रता

कई बार हमारे मन में यह प्रश्न उठता है कि मनुष्य स्वतन्त्र रूप से अपना कामकाज करता है अथवा ईश्वर की इच्छा के द्वारा नियन्त्रित होता है; अन्ततः वह स्वतन्त्र है या परतन्त्र? इस प्रश्न पर ठाकुर यहाँ प्रकाश डालते हैं; जिससे अदृष्टवाद (Predestination), स्वाधीन इच्छा (Free Will), स्वतन्त्रता (Liberty) और प्रयोजनीयता (Necessity) का विवाद मिट जाता है।

ठाकुर एक धार्मिक जुलाहे की कहानी बताते हैं। मास्टर महाशय कहते हैं, "भगवान के दर्शन हुए बिना इस 'राम की इच्छा' का बोध नहीं होता, यह समझ में नहीं आता कि सब कुछ वे ही करा रहे हैं। वे ही सबके हृदय में अवस्थित होकर यन्त्रचालित पुतली की तरह

सबको नचाते हैं। लोग कहते हैं, 'मैं करता हूँ', लेकिन असल में वे ही कराते हैं। 'तोमार कर्म तुमि करो मा, लोके बले करि आमि' (अपना कर्म तुम्हीं करती माँ, लोग कहें कि करते वे खुद)। दिव्य दृष्टि रहने से हम देखते हैं कि हम यन्त्र-मात्र हैं, लेकिन यह यन्त्रबुद्धि नहीं आती इसीलिए हमें कर्तृत्वबोध होता है। वे अनेक प्रकार से, अनेक रूपों में कर्म कराते हैं। उनके ऐसा करने के कारण उन पर किसी प्रकार के पक्षपात का दोष नहीं लगता, क्योंकि पक्षपात वे किसके प्रति करेंगे? सभी तो वे ही हैं। जिस पर कृपा करते हैं और जिसे सजा देते हैं, वे सभी तो वे ही हैं। एक पतिंगे की पूंछ में काँटा चुभा हुआ देखकर वे कहते हैं, "हे राम, तुम स्वयं ही अपनी दुर्गति कर रहे हो।"

वेद में शिव की अनेक प्रकार से स्तुति करने के बाद कहा जाता है—चोर, धोखेबाज इत्यादि सब तुम्हीं हो। इसका तात्पर्य यह है कि अच्छा-बुरा, शुभ-अशुभ, सब कुछ वे ही हैं। हम लोगों के मन में शुभाशुभ की भेद-बुद्धि है, इसलिए हम केवल शुभ में उन्हें देखते हैं। अशुभ से बचने के लिए हम अपनी दृष्टि शुभ में केन्द्रित करना चाहते हैं, इसीलिए शुभ दृष्टि की आवश्यकता है, भगवान् के मंगलमय गुणों में मन को लगाये रखने की आवश्यकता है, अन्यथा हमारे मन में अशुभ भाव बढ़ जाएँगे. यही शुभ के द्वारा अशुभ को दूर करने का साधन है। भेद दृष्टि न रहने पर क्या यह साधन सम्भव है? भेद दृष्टि माने क्या? —वे अलग हैं, मैं अलग हूँ, मैं जगत् का क्षद्र अंश हूँ। इस जगत् में मैं हूँ, अतः इस भेद दृष्टि के परिणामस्वरूप जगत् के भले बुरे का विचार

हममें है। इसलिए हम सदा ऐसी चेष्टा करते हैं कि अशुभ हमारा स्पर्श न कर सके। जगत् में सर्वत्र उनका दर्शन होने पर तो फिर भेद दृष्टि रह नहीं जाती। जब सर्वत्र परिपूर्ण रूप से वे ही हैं, तब किसे शुभ कहेंगे? और किसे अशुभ? सब कुछ राम की इच्छा है, तब मेरी या अन्य सब लोगों की इच्छा का क्या मूल्य है!

अच्छा, अब जो यह कहते हैं कि मनुष्य स्वतन्त्र है कि परतन्त्र, क्या यह समस्या समाप्त हो गयी? वस्तुतः मनुष्य जब स्वयं को स्वतन्त्र देखता है—मैं अमुक हूँ, इत्यादि, तब वह उसके व्यक्तित्व बुद्धि से उत्पन्न होता है। जब तक व्यक्तित्व बुद्धि है, तभी तक स्वाधीनता है। लेकिन जब हम उनको सर्वत्र देखना सीख लेंगे, तब मैं को कहीं खोजने पर भी नहीं पाएँगे। न वहाँ व्यक्ति है और न स्वतन्त्रता। अतः समस्त व्यक्ति उनके नियन्त्रण में हैं। इसी बात को समझाने के लिए यह कहानी है 'राम की इच्छा'।

जीव की गति और लक्ष्य

इसके बाद श्री 'म' कहते हैं, "असत् इच्छा वे क्यों देते हैं?" इस प्रसंग में ठाकुर कहते हैं, "उन्होंने जानवरों में जैसे बाघ, सिंह, सर्प बनाये हैं, वृक्षों में जैसे विष का भी वृक्ष बनाया है, उसी तरह मनुष्यों में चोर-डाकू बनाये हैं।" उन्होंने जगत् की सृष्टि की है। क्यों, यह कौन समझेगा? जब हम इस क्यों की खोज करने जाते हैं, तब अतीत की वस्तु को तर्क के द्वारा समझने की चेष्टा करते हैं, जो सम्भव नहीं है। इसलिए कहते हैं, "ईश्वर को जाने बिना 'राम की इच्छा' का बोध पूरी तरह से होगा ही नहीं। जब तक पूर्ण विश्वास नहीं होगा,

तब तक पाप-पुण्य बोध, दायित्व बोध और कर्तृत्व बोध अवश्य ही रहेगा।

भक्ति के सम्बन्ध में ठाकुर का भाव कैसा है, इस पर मास्टर महाशय विचार कर रहे हैं। ठाकुर केशव सेन को कितना चाहते हैं, उनकी जाति, कुल न देखकर केवल भक्ति देखते हैं । मनुष्य का विचार करने के लिए यह कसौटी है । भक्तिसूत्र नें साकारवादी, निराकारवादी एक हो जाते हैं। जिनके भीतर यह भक्ति-भाव दिखाई देता है उसे ठाकुर अपना ही समझते हैं। जो भी भक्त है वह उनका आत्मीय है । सभी नदियाँ भिन्न-भिन्न मार्गों से आकर समुद्र में मिल जाती हैं। सभी के लिए एक ही गन्तव्य है––परमात्मा, जो समुद्र के समान असीम है, अनन्त है। हम लोग एक-एक छोटी-छोटी जलधाराएँ हैं, जो विभिन्न मार्गों से उसी एक समुद्र की ओर प्रवाहित होती जा रही हैं । समुद्र हमारी परम गति है, यात्रा की चरम परिणति है । वस्तुतः बाह्य भिन्नता के होते हुए भी हमारे भीतर, एक-एक क्षुद्र धारा के रूप में एक-एक क्षीण किरण की भाँति वही एक परमतत्व प्रच्छन्न भाव से व्याप्त रहता है। हम सभी एक विशाल प्रकाश पुँज को लक्ष्य बनाकर भिन्न-भिन्न प्रकार से, भिन्न-भिन्न मार्गों से उसी ओर चल रहे हैं । चलते-चलते इस व्यक्तित्व की सीमा का लय हो जाएगा। शुद्ध जलबिन्दु जलाशय में पड़कर उसके साथ एक हो जाता है । इसी तरह ब्रह्माण्ड ब्रह्मस्वरूप हो जाता है । बिन्दु रंगीन होन पर, जलराशि में पड़ने पर भी उसका कुछ न कुछ रंगीन भाव रह जाता है, इसलिए बिन्दु का शुद्ध होना आवश्यक है ।हम भी ब्रह्मसिन्धु में

गिरकर बिन्दु नहीं रह जाएँगे। इसलिए हमें शुद्ध होना होगा। अशुद्धता ही हमें परमेश्वर से पृथक् रखती है। व्यक्तित्व तो केवल अशुद्धि मात्र है। खण्ड व्यक्तित्व की परिसमाप्ति अर्थात् जीव के जीवत्व का अवसान अपने पूर्ण स्वरूप की अनुभूति होने पर ही होगा। ज्ञानी की दृष्टि में वह अब भी समुद्र है; क्योंकि समुद्र को छोड़कर और कुछ है ही नहीं। लेकिन अपने चारों ओर घेरा लगाकर जीव स्वयं को खण्ड या क्षुद्र अनुभव करता है। यह काल्पनिक है, भ्रान्तिमूलक है; मिथ्या-ज्ञान के वशीभूत होकर घेरा बना लिया गया है। भक्त भगवान की सम्पूर्ण शुद्ध रूप में कल्पना तथा उपासना करता है। भगवान चित्स्वरूप हैं, भक्त भी स्वरूपतः वही है, फिर भी वह पहले स्वयं को खण्डित, क्षुद्र और उपास्य को अखण्ड चैतन्य के रूप में देखता है। क्रमशः जब उसमें शुद्धता आती है, तब देखता है कि उपास्य और उपासक के बीच कोई पार्थक्य नहीं है। जो उपास्य है वही इतने दिनों तक उपासक बना रहा। उपास्य के साथ मिलकर एक हो जाना ही उसके उपासना की परि-समाप्ति है। अतः ज्ञानी और भक्त के बीच रुचि की दृष्टि से थोड़ा सा भेद है तथापि स्वरूपतः उनमें पार्थक्य नहीं है।

जगत् स्वप्नवत् है या नहीं

श्री 'म' और एक बात कहते हैं, "श्री ठाकुर इस जगत को स्वप्नवत् नहीं कहते। इससे तो वजन कम पड़ जाएगा।" 'जगत स्वप्नवत् है'—यह उक्ति क्या जगत के अन्तर्गत नहीं है? जब ये शब्द जगत में ही हैं, तब तो ये भी स्वप्नवत् हैं। 'जगत मिथ्या' क्या यह शब्द

सत्य है ?' 'जगत स्वप्नवत् है,' यह एक सिद्धान्त है। क्या वक्ता भी स्वप्नवत् है ? क्या उसका वक्तव्य भी स्वप्नवत् है ? तो फिर ब्रह्म का अस्तित्व कहाँ रह जाता है ? जो ब्रह्म का निरूपण करते हैं, वे भी जगत के एक अंग मात्र हैं। इस तरह उनके द्वारा कही गयी बात भी स्वप्नवत् है। इस प्रसंग में बहुत सी बातें हैं। 'मिथ्या का मिथ्यात्व,' कहा गया। 'मिथ्या' शब्द ही मिथ्या है। वास्तविक तत्व यह है कि जब तक जगत का बोध हो रहा है, तब तक जगत को स्वप्नवत् नहीं कहा जा सकता। यह मानो किसी दूसरी भूमि पर अवस्थित होकर, इस सिद्धान्त पर पहुँचकर कहा गया कि जगत स्वप्नवत् है। वास्तव में जो इसी जगत में रहते हैं, व्यवहार, शास्त्र-चर्चा, पूजा, उपासना आदि सब कुछ इस जगत में ही करते हैं, उनके लिए यह जगत स्वप्नवत् कैसे हो सकता है ? हाँ तत्व की दृष्टि से देखने पर सब मिथ्या है।

लेकिन यह सब जानने से हमें क्या लाभ ? हमें तो इस अज्ञानाच्छन्न अवस्था से ही अग्रसर होने की चेष्टा करनी होगी, सिद्ध होने पर ब्रह्मस्वरूप होकर मुक्त होंगे। इस अज्ञान अवस्था को मिथ्या समझ लेने पर तो आगे बढ़ने का रास्ता ही बन्द हो जाएगा। स्वप्न के बारे में जो यह कहा गया है —'न तत्र रथा न रथ-योगाः न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते।' स्वप्न में रथ पर चढ़कर चला जा रहा हूँ। वहाँ रथ, घोड़ा, पथ आदि कुछ भी नहीं है। चलना भी मिथ्या है। रथ, घोड़ा, पथ आदि सबकी सृष्टि स्वप्नद्रष्टा स्वयं करता है। इस प्रकार हम जो साधना करते हैं या सिद्धिलाभ करते हैं, वह सभी

स्वप्नवत् है। इसी दृष्टि से माण्डूक्यकारिका में कहा गया है—इन्द्रियनिरोध, ज्ञानोत्पत्ति, बन्धन, साधक, मुमुक्षु, मुक्त इन सबका अस्तित्व ही नहीं है। यह हुआ परमतत्व। बन्धन होगा तभी तो मुक्ति होगी। अतः नेति-नेति कहकर परमतत्व को जाना जाता है।

लेकिन उस तत्वज्ञान से क्या लाभ ? मैं एक व्यक्ति हूँ। अन्धकार में, अगाध समुद्र में कूल-किनारा नहीं पाता—मेरे उद्धार का उपाय क्या है ?

वेदान्त मत और भक्ति पथ

इसीलिए शास्त्र कहते हैं कि साधना के प्रारम्भ से ही इस 'जगत मिथ्या' के सिद्धान्त को पकड़ लेने पर फिर आगे नहीं बढ़ पाओगे। वेदान्त शास्त्रों का मुख्य उपदेश यह है कि जगत और जीव-भाव का अवलम्बन कर साधना करनी होगी, विचार करना होगा। इसलिए कहते हैं—"सत्य और मिथ्या को मिलाकर सब व्यवहार होता है। शास्त्र में स्वयं को तथा जगत को सत्य समझ कर उसके सहारे आगे बढ़ने का उपदेश है। विशिष्टाद्वैतवाद में यह बात विशेष रूप से स्वीकृत हुई है। ठाकुर भी कहते हैं कि यह जगत स्वप्नवत् नहीं है, अन्यथा वजन कम पड़ जायगा।

अब यहाँ प्रश्न उठता है, 'तो क्या ठाकुर विशिष्टाद्वैतवादी हैं ? हम यह जानते हैं कि ठाकुर कोई वादी नहीं हैं। वे द्वैतवादी, अद्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी सभी हैं तथा इसके अतिरिक्त और भी कोई वादी होता हो तो वह भी हैं। ठाकुर वेद-वेदान्त के परे जाने की बात कहते थे। उनका अभिप्राय वेद को तुच्छ करना नहीं है।

वेद के व्यवहार की सीमा को समझा देने के लिए ही वे यह बात कहते हैं। जब ब्रह्मज्ञान होता है तब वृत्तिज्ञान अज्ञान में परिणत हो जाता है। वेद ही तो कहते हैं, 'तत्र वेदा अवेदाः' (बृहदारण्यकोपानिषद् ४/३/२२) वेद अवेद हो जाता है। अतः जब तक हम जगत के व्यवहार में हैं, तब तक यह समझना होगा कि हमारे भीतर सत्य और मिथ्या मिले हुए हैं। इसलिए इस 'मैं' बोध को लेकर यह कहना सम्भव नहीं कि यह जगत स्वप्नवत् है। हम लोग वेदान्त का प्रयोग भूल जाते हैं। एक वेदान्ती के सम्बन्ध में कुछ बुरी बातें सुनकर ठाकुर ने उससे इसका कारण पूछा। उसने उत्तर दिया, 'जब यह जगत तीन काल में झूठा है, तो आपने जो सुना वह भी क्या झूठा नहीं ?' ठाकुर ने खिन्न होकर वेदान्ती को धिक्कारा। ठीक इसी प्रकार एक भूमि से अन्य भूमि पर जाकर हम वेदान्त का दुरुपयोग करते हैं। इसलिए आचार्य शंकर ने व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार किया है। जब तक मैं बोध है, तब तक शक्ति के इलाके में रहना पड़ेगा। यह जो भगवान् की सृष्टि-स्थिति-लयकारिणी शक्ति है, उसके इन्द्रजाल से मैं मुक्त नहीं हूँ। यदि वे स्वयं मुक्त कर दें, तभी मुक्ति सम्भव है। उन्होंने ही बन्धन में डाल रखा है और वे ही मुक्त भी करेंगी। इसे ही ठाकुर ने 'राम की इच्छा' कहा है। इस बन्धन से मुक्ति पाने के लिए शास्त्रों में कहे गये मार्ग को पकड़कर साधना करना आवश्यक है। विचार अथवा उपासना कर इन माया-जाल को काटने की चेष्टा करनी चाहिए।

—'तामुपैहि महाराज शरणं परमेश्वरीम्।' (देवी माहात्म्य १३/४)

——उन परमेश्वरी के शरणापन्न होने पर वे स्वयं मुक्ति का उपाय कर देंगी। परमेश्वर-परमेश्वरी, शिव-शक्ति—जो भी कहें, एक ही बात है। भक्ति के मार्ग में उनकी शरण लेना, ज्ञान के मार्ग में अपने स्वरूप या ब्रह्मस्वरूप का विचार करना—जिससे जो हो, करे और इसके द्वारा सत्यस्वरूप हो जाने पर सिन्धु और बिन्दु के बीच कोई पार्थक्य नहीं रह जाता।

○

मन की शक्ति

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर विचारोत्तेजक तथा उद्‌बोधक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय-समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। पाठकों के अनुरोध पर उन्हें 'विवेक ज्योति' में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। प्रस्तुत लेख 'आकाशवाणी' रायपुर से साभार गृहीत है। —स.)

मनुष्य का मन अनन्त शक्तियों का कोष है। सामान्य रूप से मनुष्य को मन की असीम शक्तियों का बोध नहीं हो पाता। इसका कारण यह है कि मन साधारण स्थिति में अत्यन्त चंचल हुआ करता है। मन की शक्ति का ज्ञान तब होता है जब हम उसे एकाग्र करना चाहते हैं। ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र का प्रत्येक आविष्कार मन की एकाग्रता की स्थिति में ही सम्पन्न हुआ है। इसीलिए जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने के लिए मन की एकाग्रता पहली शर्त है। सामान्यत: जब व्यक्ति अपने मन को एकाग्र करने का आरम्भिक प्रयास करता है तो वह पाता है कि मन पहले की अपेक्षा और अधिक चंचल हो गया है। इससे वह घबराकर ऐसा प्रयास करना ही त्याग देता है। पर यह तो मन की प्रकृति ही है। जब हम मन को एकाग्र करने का प्रयास करते हैं, तब हमें उसके वास्तविक स्वरूप की झलक मिलती है। साधारण तौर पर हमारा मन विचारों के सतत प्रवाह के समान है। कल्पना कीजिए, एक धारा बह रही

है। ऊपर से हमें उसकी शक्ति का पता नहीं चलता। पर जब हम उस धारा को बाँधने का प्रयास करते हैं, तब उसकी अकल्पित शक्ति प्रकट होती है। बाँध बह जाते हैं और ऐसा लगता है कि धारा में इतनी ताकत होने की हमने कल्पना तक नहीं की थी। उसी प्रकार जब हम मन को एकाग्र करते हैं तो वह मानो मन को बाँधने के समान है और इस प्रयास में मन अधिक क्षुब्ध हो उठता है। लगता है, मानो वह इतना चंचल कभी नहीं था।

कल्पना कीजिए, एक सरोवर है जिसका जल निर्मल दीखता हैं। पर उसके जल में इतना कीचड़ जमा हुआ है कि हम एक कंकड़ सरोवर में डालते हैं तो उतने से ही धीरे-धीरे आसपास का पानी गँदला जाता है। मान लीजिए, हम इस सरोवर से कीचड़ को साफ करना चाहते हैं। हमने कीचड़ निकालना शुरू किया। पानी गँदला हो जाता है। जैसे-जैसे हम कीचड़ निकालते जाते हैं, वैसे-वैसे सरोवर का जल अधिकाधिक मटमैला होता जाता है। यदि हम सोचें कि इससे तो पहले ही अच्छा था जब सरोवर का जल इतना गँदला तो न था, और ऐसा सोचकर कीचड़ निकालना बन्द कर दें, तो धीरे-धीरे सरोवर का जल फिर से निर्मल तो हो जाएगा पर उसकी निर्मलता का कोई मतलब नहीं होगा, क्योंकि एक छोटा सा कंकड़ उसके तल के कीचड़ को ऊपर कर सकता है। पर यदि हमने जल के गँदले होने की परवाह न कर, कीचड़ निकालना जारी रखा, तो एक दिन आयेगा जब सरोवर का सारा कीचड़ साफ हो जायेगा और उसके बाद उसके जल को जो निर्मलता प्राप्त होगी वह यथार्थ की होगी। क्योंकि तब सरोवर

में यदि हाथी भी उतर जाये तो भी जल गँदला नहीं होगा।

हमारा मन भी उसी सरोवर के समान है जिसके तल में जन्म-जन्मातर के गन्दे संस्कार भरे हुए हैं। ऊपर ऊपर से यह निर्मल सा लगता है पर एक छोटा सा दृश्य, एक तनिक सा विचार हमारे मन के कूड़ा-कर्कट को बाहर प्रकट कर देता है। जब ध्यान आदि साधना के सहारे हम मन की इस संचित गंदगी को दूर करने का प्रयत्न करते हैं, तो सरोवर के जल के समान मन बड़ा गन्दा दिखायी पड़ता है, क्योंकि उसमें बड़े भयानक-भयानक विचार उठते रहते हैं। पर हम डरें नहीं। यही समझें कि हम ठीक रास्ते पर हैं। जान लें कि नाली साफ हो रही है। अभ्यास को न त्याग कर, उसको और तीव्र कर दें। धीरे-धीरे हम देखेंगे कि हमारा मन पहले की अपेक्षा अब काफी ठीक हो चला है।

ऐसे निर्मल मन को सहज ही एकाग्र किया जा सकता है। एकाग्र मन ठीक उसी प्रकार रहस्यों का भेदन करता है, जिस प्रकार शक्तिशाली क्ष-किरणें धातुओं के आवर्त को भेद जाया करती हैं। प्रकृति-राज्य के रहस्य एकाग्र मन के समक्ष सहज ही प्रकट हो जाते हैं। एकाग्र मन वाला व्यक्ति जिस वस्तु पर भी चिन्तन करता है वह तत्काल उसके समाधान को प्राप्त कर लेता है। ऐसे मन के द्वारा यदि व्यक्ति स्वयं अपने अस्तित्व पर विचार करता है तब उसे स्वयं की प्रच्छन्न अनन्त सम्भावनाओं का बोध सहज ही हो जाता है।

श्री चैतन्य महाप्रभु (१०)

स्वामी सारदेशानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक की रचनाओं में मूल बँगला में लिखा उनका 'श्रीश्रीचैतन्यदेव' ग्रन्थ श्री चैतन्य महाप्रभु की जीवनी पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है, जिसका हिन्दी अनुवाद धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है। अनुवादक हैं स्वामी विदेहात्मानन्द। —स.)

पंचम अध्याय

श्री जगन्नाथ दर्शन—सार्वभौम से मिलन

दक्षिण भारत की यात्रा और रामानन्द के साथ तत्त्वचर्चा

काफी दिनों तक अत्यन्त दुःख-कष्ट के बीच लम्बा पथ पार करके आज चैतन्यदेव पुरी में आये हैं। मन्दिर देखते ही उनके अन्तर का प्रेमसमुद्र हिलोरें लेने लगा। दौड़कर उन्होंने भीतर प्रवेश किया। बहुकाल वांछित 'दारुब्रह्म'-मूर्ति का दर्शन करने के बाद वे भावावेश में प्रियतम के पादपद्मों में सिर टेककर बाह्यज्ञान खो बैठे, उनका शरीर मन्दिर के फर्श पर लोट गया। इधर श्रीमूर्ति का स्पर्श कर लेने के कारण चारों ओर हो-हल्ला मच गया, प्रहरी बेत उठाकर प्रहार करने को आया। उस समय मन्दिर में राजा के सभापण्डित वासुदेव सार्वभौम भी उपस्थित थे। संन्यासी की दिव्य अगकान्ति और अपूर्व भावावेश देखकर वे आगे बढ़े और प्रहरीगण उनके संकेत पर पीछे हट गये। थोड़ी देर प्रतीक्षा करने के बाद भी जब उनकी चेतना नहीं लौटी, तो सार्वभौम अन्य लोगों की सहायता से संन्यासी को उठाकर अपने घर ले गये।

थोड़ी देर बाद नित्यानन्द भी संगियों के साथ मन्दिर में आ पहुँचे, परन्तु चैतन्यदेव को वहाँ न देखकर उन

लोगों के हृदय में बड़ा उद्वेग उत्पन्न हुआ। पूछताछ करने पर पता चला कि थोड़ी देर पहले ही वासुदेव सार्वभौम एक अचेत संन्यासी को मन्दिर से अपने घर ले गये हैं। उन लोगों को सारी बात समझते देर न लगी, पता पूछकर सभी शीघ्रतापूर्वक सार्वभौम के घर* की ओर चल पड़े। मार्ग में गोपीनाथ आचार्य के साथ भेंट हुई। गोपीनाथ नवद्वीप के ही निवासी और सार्वभौम के बहनोई थे। इन दिनों वे पुरी में ही रहते थे। मुकुन्द की भक्त गोपीनाथ के साथ पहले से ही जान-पहचान और मित्रता थी। इस दुर्दिन में भगवत्कृपा से उन्हें पाकर सबको बड़ी दिलासा मिली। मुकुन्द ने नित्यानन्द का गोपीनाथ के साथ परिचय करा दिया। नित्यानन्द के मुख से चैतन्यदेव का सारा वृतान्त सुनने के बाद गोपीनाथ उन लोगों को साथ लेकर सार्वभौम के घर जा पहुँचे। सार्वभौम की सेवा-यत्न के फलस्वरूप चैतन्यदेव उसी समय थोड़े स्वस्थ हो रहे थे और उनका बाह्यज्ञान लौट आया था। नित्यानन्द तथा अपने संगियों को देखकर वे अतीव आनन्दित हुए। महाप्रभु को स्वस्थ देख उन लोगों के भी प्राण शीतल हुए। गोपीनाथ के मुख से सबका परिचय सुनकर सार्वभौम बड़े आनन्दित हुए और परम स्नेह तथा सम्मानपूर्वक उन लोगों से अपने गृह में ही निवास एवं विश्राम करने का अनुरोध किया। नित्यानन्द और भक्तगण ने सार्वभौम के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते हुए अपने परमप्रिय संगी की रक्षा के लिए उन्हें बारम्बार धन्यवाद दिया। थोड़ी देर विश्राम हो जाने के पश्चात् सार्वभौम ने अपने पुत्र को

*पुरी में वर्तमान गंगामाता मठ ही सार्वभौम का मकान है।

साथ देकर उन लोगों के जगन्नाथ दर्शन, समुद्र स्नान और विभिन्न तीर्थकृत्यों की अति सुन्दर व्यवस्था कर दी। अतीव आनन्दपूर्वक उन लोगों ने स्नान-दर्शन आदि किया। सार्वभौम के निमन्त्रण पर उस दिन चैतन्यदेव ने भक्तों के साथ उन्हीं के घर भिक्षा ग्रहण की। भिक्षा में 'महाप्रसाद' पाकर उन लोगों के आनन्द की सीमा न रही। चैतन्यदेव का विचार जानकर सार्वभौम ने अपने मकान के समीप ही अपने एक सम्बन्धी के घर एक अति निर्जन स्थान में उन लोगों के निवास की व्यवस्था कर दी।

विशाल उड़ीसा प्रान्त उन दिनों एक स्वाधीन राज्य था। महापराक्रमी परमभक्त राजा प्रतापरुद्र गजपति देश के अधीश्वर थे। मुसलमान बादशाहों के बारम्बार आक्रमण का प्रतिरोध करते हुए उन्होंने अपने बाहुबल से स्वदेश की विजय पताका उड्डीयमान रखी थी। उड़ीसा के पुरी, भुवनेश्वर, याजपुर, कोणार्क आदि तीर्थ स्थानों में मूर्तिकला और स्थापत्य की पराकाष्ठा का निदर्शन कराने वाले मन्दिर स्थित हैं। भारत के सभी प्रान्तों के स्वधर्मनिष्ठ हिन्दू तीर्थयात्री उस अतीतकाल के उड़ीसा में आकर उन स्थानों का दर्शन करते थे। इन तीर्थ-यात्रियों की सुविधा के लिए धर्मप्राण राजा सर्वदा तत्पर रहते थे और देश में सर्वत्र रास्ता, घाट, अतिथिशाला, अन्नक्षेत्र आदि की सुव्यवस्था के लिए मुक्तहस्त से धन व्यय करते थे। विदेशी यात्री एवं पथिकों के निरापद आवागमन के लिए उन्होंने सर्वत्र सतर्क प्रहरियों की नियुक्ति की थी। तीर्थदर्शन के लिए आकर अनेक परदेशी यात्री पुरी की महिमा से आकृष्ट होकर वहीं स्थायी

रूप से रहने लगे थे । विशेषत: बंगाल में मुस्लिम राज्य प्रतिष्ठित हो जाने के कारण अनेक स्वधर्मनिष्ठ लोग उड़ीसा के स्वाधीन हिन्दू राज्य में जाकर बस गये थे । राजा की सबके प्रति समान दृष्टि थी, तथापि परदेशियों की सुख-सुविधा की ओर वे विशेष ध्यान देते थे । हिन्दू राजा शास्त्र की आज्ञानुसार वात्सल्य भाव से प्रजापालन को ही राजधर्म मानते थे । उनका विश्वास था कि इस धर्म का ठीक ठीक पालन करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है और न करने से नरकवास करना पड़ता है । हिन्दू राजा-गण देशकाल के अनुसार शास्त्र की व्यवस्था देने के लिए शास्त्रज्ञ ब्राह्मण पण्डितों को वृत्ति देकर अपने यहाँ नियुक्त रखते थे । हिन्दू शास्त्रों के अनुसार ही उन दिनों देश का न्याय और शासन चला चला करता था । अत: राजसभाएँ महामहोपाध्याय पण्डितों से अलंकृत रहती थीं, जिन्हें सभापण्डित कहते थे । वासुदेव सार्वभौम के पाण्डित्य पर मुग्ध होकर प्रतापरुद्र ने उन्हें अपना सभा-पण्डित बना लिया था । कहते है कि उनकी ख्याति सुनकर राजा उन्हें बंगाल से अत्यन्त आदरपूर्वक उड़ीसा ले आये थे । सार्वभौम अपने सगे-सम्बन्धियों के साथ उड़ीसा में ही निवास करते थे । राज्य और राजा की दृष्टि में उनका विशेष सम्मान था ।

श्री शंकराचार्य ने भारत में विकृत बौद्धधर्म का प्रभाव दूर करके सनातन वैदिक धर्म की पुन: प्रतिष्ठा की । वेद और वैदिक धर्म के संरक्षण एवं प्रचार हेतु उनके द्वारा भारत के चार प्रान्तों में स्थित चारधामों में चार प्रधान मठों की स्थापना हुई और बाद में उन प्रधान

मठों के अधीन समस्त प्रसिद्ध स्थानों एवं तीर्थों में अनेक शाखा-मठों की प्रतिष्ठा हुई थी। भारत के उत्तरी अंचल हिमालय में जोशीमठ (ज्योतिर्मठ), पूर्व अंचल के पुरी क्षेत्र में गोवर्धन मठ दक्षिणांचल के रामेश्वर क्षेत्र में शृंगेरी-मठ और पश्चिमी प्रान्त के द्वारका क्षेत्र में शारदामठ की स्थापना करने के पश्चात्, उक्त चार मठों के अधीन सम्पूर्ण भारतवर्ष का विभाजन करके सभी मठाधीशों पर धर्मरक्षा का उत्तरदायित्व अर्पित हुआ था। इसी के फलस्वरूप अति अल्प अवधि के भीतर ही सम्पूर्ण भारत में वैदिक धर्म पुनर्जीवित हो उठा। काल के प्रवाह में कभी उन मठों की उन्नति एवं कभी अवनति हुई है और किसी किसी मठ का मुख्यालय स्थानान्तरित भी हुआ है; तथापि सारे भारत में अब भी इन मठों, मठाधीशों और सम्प्रदायों का प्रबल प्रभाव है। कहना न होगा कि विधर्मियों के प्रबल आक्रमण और पराधीनता के घोर अमोनिशा के दौरान भी इन मठों ने सनातन धर्म, ज्ञान-भक्ति एवं त्याग-तपस्या के प्रदीप की उज्ज्वल प्रभा फैलाकर मार्ग से भटके लोगों का पथप्रदर्शन किया है। परवर्ती काल में आचार्य शंकर के समान ही रामानुज आदि आचार्यों ने भी अपने अपने सम्प्रदाय के संरक्षण एवं प्रचार हेतु जगह जगह उसी प्रकार के मठों एवं अखाड़ों की स्थापना की। पुरी में अब तक सर्व सम्प्रदायों के मन्दिर, मठ और अखाड़े विद्यमान हैं। इन मठों में ब्रह्मचारी, संन्यासी और वैरागीगण निवास करते हुए अध्ययन, अध्यापन एवं साधन-भजन की सहायता से अपना जीवनगठन तथा परम पुरुषार्थ (मुक्ति) प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। इसके साथ ही वे लोग तीर्थदर्शन

के लिए देश में सर्वत्र भ्रमण करते हुए धर्मप्रचार के द्वारा जगत का परम कल्याण करते हैं।

वासुदेव सार्वभौम के काल में भी पुरी में बहुत से ब्रह्मचारी और संन्यासी निवास करते थे। शास्त्रचर्चा और साधना की दृष्टि से पुरी अति उपयुक्त स्थान था, अतः साधु-संन्यासी वहाँ निवास करने को इच्छुक रहते थे। सार्वभौम न केवल एक बड़े नैयायिक व मीमांसक पण्डित थे, अपितु वेदान्त शास्त्र में भी उनकी असाधारण गति थी। पुरी के अनेक ब्रह्मचारी एवं संन्यासीगण उनके पास शांकरभाष्यादि के सहित वेदान्त शास्त्र पढ़ते थे। चैतन्यदेव के साथ परिचय और वार्तालाप के बाद सार्वभौम के मन मे बड़ा दुःख हुआ, और ऐसा होना स्वाभाविक भी था। चैतन्यदेव के नाना नीलाम्बर चक्रवर्ती के साथ सार्वभौम की मित्रता थी। इस कारण यह देखकर कि अपने परम स्नेहपात्र निमाई इतनी अल्प आयु में ही वृद्ध माता और बालिका पत्नी का परित्याग कर संन्यासी हो गये हैं, वासुदेव को बड़ा ही खेद होने लगा। फिर संन्यास का परिचय पूछने पर जब उन्हें पता चला कि वे भारती नामक संन्यासी के शिष्य हैं तो उनका दुख और भी बढ़ गया। क्योंकि सार्वभौम महाशय असाधारण पण्डित थे तो भी क्या ? विषयी लोगों के लिए मान, यश तथा सामाजिक प्रतिष्ठा ही प्रमुख काम्यवस्तु है और उसी तरफ उनका पूरा ध्यान लगा रहता है। उसी को वे लोग संसार का सार-सर्वस्व समझते हैं। अतः उन दिनों भारती की अपेक्षा किसी भी अन्य संन्यासी सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा अधिक होने के कारण, उनकी इच्छा हुई कि अपने प्रियजन उन्हीं सम्प्रदायों में सम्मिलित

हों। उन्होंने चैतन्यदेव से कहा कि मेरी बात मानी जाय तो मैं सर्वाधिक गौरवशाली सम्प्रदाय के संन्यासी द्वारा आपका पुनः संस्कार कराऊँगा। परन्तु पारमार्थिक दृष्टि सम्पन्न चैतन्यदेव के लिए यह सब अति हेय बात थी। उन्होंने अत्यन्त विनयपूर्वक सार्वभौम को बताया कि मेरे समान अधम अधिकारी के लिए इतना ही यथेष्ट है, अतः इस दिशा में और कोई प्रयास करने की आवश्यकता नहीं। उनका ऐसा मनोभाव देखकर सार्वभौम प्रसन्न तो नहीं हुए, पर फिर ऐसा अनुरोध नहीं किया; तथापि युवा संन्यासी के प्रति स्नेहवश उन्होंने उनको वेदान्त शास्त्र पढ़ाने की इच्छा व्यक्त की। वासुदेव ने कहा, "संन्यास धर्म का पालन करना और विशेषकर तुम्हारे समान युवक के लिए तो अत्यन्त कठिन है। तुम मुझसे वेदान्त शास्त्र का अध्ययन करो, इससे तुम्हारी बुद्धि परिमार्जित होगी और तुम यथार्थ संन्यासी का जीवन बिताने में सक्षम हो जाओगे। मैं अत्यन्त यत्नपूर्वक तुम्हें समग्र वेदान्त शास्त्र का अध्ययन कराऊंगा।" चैतन्यदेव ने अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते हुए कहा, 'आप मेरे परम हितैषी, रक्षाकर्ता, आश्रयदाता हैं। मैं आपका आदेश यथासाध्य पालन करूँगा।"

सार्वभौम के पास चैतन्यदेव का वेदान्त-अध्ययन प्रारम्भ हुआ। वे शांकरभाष्य के सहित ब्रह्मसूत्र की व्याख्या करते और चैतन्यदेव मनोयोगपूर्वक उसका श्रवण करते। वासुदेव ने भाष्य की व्याख्या करते हुए सगुण-ब्रह्मवाद, भक्ति उपासना आदि का खण्डन किया और चैतन्यदेव को समझाने का प्रयास किया कि एकमात्र निर्गुण निर्विशेष अद्वय ब्रह्म ही श्रुति (उपनिषद) का

प्रतिपाद्य विषय है तथा ब्रह्मज्ञान अथवा मोक्ष की उपलब्धि के लिए श्रवण, मनन, निदिध्यासन की ही आवश्यकता है। भगवत्-उपासना की विरोधी युक्तियाँ सुनकर प्रेम-भक्ति के मूर्तविग्रह चैतन्यदेव के अन्तर में असीम पीड़ा होती थी, तथापि वे उसे थोड़ा भी न व्यक्त करते हुए मौन रहकर सार्वभौम की व्याख्या सुनते रहे। उन्हें कोई प्रश्न न उठाते देख पण्डितजी के मन में सन्देह जागा। सात दिन बाद सार्वभौम ने पूछा, "तुम कुछ पूछते क्यों नहीं? क्या कुछ भी नहीं समझ पाते?" चैतन्यदेव ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया, "सूत्रभाष्य तो भलीभाँति समझ पाता हूँ, परन्तु आपकी व्याख्या से ही सब कुछ गोलमाल हो जाता है। आपकी व्याख्या मेरे मन को ठीक नहीं जँचती।" भारतविख्यात् पण्डित वासुदेव सार्वभौम के समक्ष ऐसी उद्दण्डता! युवा संन्यासी की इस धृष्टतापूर्ण उक्ति पर वासुदेव अत्यन्त नाराज होकर बोले, "सूत्रभाष्य को समझाने के लिए ही तो मैं व्याख्या कर रहा हूँ और तुम कहते हो कि सूत्रभाष्य तुम्हारी समझ में आता है, मेरी व्याख्या से ही गोलमाल हो जाता है! सूत्रभाष्य तुमने क्या समझा है, सुनाओ तो जरा?"

ब्रह्मसूत्र के भाष्य में आचार्य शंकर ने अति स्पष्ट भाषा में सगुण और निर्गुण तत्व के रूप में ब्रह्म क द्विविध भाव-का उल्लेख किया है। उपासना को उन्होंने श्रुति-स्मृति द्वारा समर्थित बताया है और अज्ञानाच्छन्न जीव की मोक्षप्राप्ति के लिए भगवदुपासना की अतीव आवश्यकता स्वीकार की है। परन्तु परवर्तीकाल में अनुभूतिहीन एवं वाद-वितण्डा-प्रिय पण्डितों ने उनके

भाष्यों का ठीक ठीक मर्म न समझ पाकर, एकांगी व्याख्या का प्रचार किया। इन समस्त व्याख्याताओं के मतानुसार सर्वोपाधि-विवर्जित एकमात्र निर्गुण निष्क्रिय ब्रह्म ही श्रुतिसिद्ध है और ब्रह्मसूत्र एवं शांकरभाष्य में उसी तत्व का निरूपण हुआ है तथा एकमात्र वही तत्त्ववस्तु ज्ञानगम्य है, अतः भक्ति-उपासना निरर्थक है। ये पण्डितगण शंकराचार्य की दुहाई देते हुए सगुण ब्रह्म, और ईश्वरतत्त्व के विरोधी एक तरह की नास्तिकता एवं श्रुति-स्मृति को विकृत कर प्रचार करते थे। उन लोगों का मत था कि इस प्रकार का शास्त्रविचार और स्वानुभूतिरहित सिद्धान्त-समर्थन ही ज्ञानावस्थिति या मोक्ष है। लगता है वासुदेव सार्वभौम भी उन दिनों इसी श्रेणी के वेदान्ती थे।

अस्तु। सार्वभौम के आह्वान पर श्री चैतन्य धीर, स्थिर और गम्भीर भाव से अपनी सरल सहज भाषा में व्याख्या करने लगे। उन्होंने सगुण ब्रह्मवाद और भक्ति-उपासना का प्रतिपादन करते हुए सार्वभौम की एकांगी व्याख्या का दोष स्पष्ट किया।

सार्वभौम ने भी अपने पक्ष के समर्थन में अनेक युक्तियों का सहारा लिया, परन्तु चैतन्यदेव के सामने वह सब टिका नहीं। उन्होंने निःसन्दिग्ध भाव से एक एक कर उन समस्त युक्तियों का खण्डन कर दिया। घोर तर्कयुद्ध चलने लगा। दोनों ही महापण्डित थे, अतः दोनों ही श्रुति स्मृति न्याय आदि शास्त्रों की सहायता से अपने अपने पक्ष का समर्थन करने लगे। इस प्रकार कई दिन तक निरन्तर दोनों के बीच तर्क-वितर्क जारी रहा। आखिरकार सार्व-भौम को हथियार डालकर चैतन्यदेव की व्याख्या मान

लेनी पड़ी। तदुपरान्त चैतन्यदेव भाष्य की व्याख्या करते हुए सूत्रों का श्रुतिसम्मत वास्तविक अर्थ समझाने लगे। सुनकर वासुदेव का मन मुग्ध हो गया। शांकर-सम्प्रदाय के ही संन्यासी श्रीमत् श्रीकृष्ण चैतन्य भारती ने आज आचार्य शंकर के भाष्य के वास्तविक मर्म का उद्घाटन कर, वेदान्त के आवरण में प्रचारित नास्तिकता के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। उनकी प्रखर मेधा की तीक्ष्ण धार से युक्त युक्तियों के भागीरथी-प्रवाह में तथाकथित वेदान्ती—नास्तिकों के वितण्डायुक्त विचार तृण के समान बह गए। चैतन्यदेव के सिद्धान्तों और युक्ति-मीमांसा की महत्ता समझकर सार्वभौम सोचने लगे कि निश्चय ही इन नवीन संन्यासी ने तत्त्ववस्तु का करामलकवत् अपरोक्ष अनुभव किया होगा; इसीलिए तो इनके वाक्य ऐसे सहज, सरल एवं हृदयग्राही होते हुए भी सारगर्भित हैं। उपलब्धिविहीन कोरा पाण्डित्य उस अतीन्द्रिय वस्तु के बारे में मानव को संशयमुक्त नहीं कर सकता, हृदय में शान्ति नहीं ला सकता। सार्वभौम का ज्ञानगरिमा और पाण्डित्य का अभिमान दूर हुआ। वरिष्ठ आचार्य ने शिष्य स्थानीय होकर अत्यन्त आग्रह-पूर्वक श्रवण किया और युवा संन्यासी ने आचार्य का आसन स्वीकार कर, अपनी अति प्रांजल भाषा में शांकरभाष्य के भावानुसार ब्रह्मसूत्र की व्याख्या की।*

---

* चैतन्य-भागवत के मतानुसार चैतन्यदेव ने अद्वैतवाद और सार्वभौम ने उसके विपरीत मत का आश्रय लेकर तर्कयुद्ध किया था। अद्वैतवाद के प्रबल प्रतिद्वन्द्वी रामानुजी विशिष्टाद्वैतवादी भक्त-सम्प्रदाय पुरी में काफ़ी काल से सुप्रतिष्ठित है। सार्वभौम के उनके मत का अनुयायी होने में कोई विस्मय की बात नहीं। बाद में राय

चैतन्यदेव की प्रेमभक्ति के प्रभाव से एक नीरस शुष्क हृदय में भक्तिरस का संचार हुआ। स्वधर्मनिष्ठ उच्चाधिकारी ब्राह्मण के हृदय से पाण्डित्य का अहंकार निकल जाने से चित्त की मलीनता भी दूर हो गयी। ज्ञाननेत्र उन्मीलित हो जाने से सार्वभौम को एक अति अद्भुत अनुभूति हुई। उन्होंने देखा कि जो ईश्वरी शक्ति पूर्व युगों में दुर्वादल-श्यामतनु हाथों में धनुष-बाण लिये और नवमेघवर्ण काया में दोनों हाथों में वेत्रवेणु लिये, जीवकुल के परित्राणार्थ धरती पर अवतीर्ण हुई थी, वही शक्ति पुनः धर्मग्लानि को दूर करने हेतु तप्त-कांचनकाय गैरिक वसन धारण किए मुण्डित-मस्तक चैतन्यदेव के रूप में आविर्भूत हुई है। श्री चैतन्यदेव का श्रीराम और श्रीकृष्ण के अभेद रूप में दर्शन करने के पश्चात् सार्वभौम अश्रुजल प्रवाहित करते हुए धरती पर लोटकर प्रणाम करने लगे और 'षड्भुजधारी'† भगवान् की विविध प्रकार से स्तुति करते हुए उन्होंने चिरकाल के लिए उनके चरणों में आत्मसमर्पण कर दिया। श्री चैतन्य चरितामृत में वर्णित है—"सार्वभौम ने धरती पर पड़कर दण्डवत् किया और पुनः उठकर दोनों हाथ जोड़े स्तुति करने लगे। प्रभु की कृपा से उनके अन्तर में सारा तत्त्व – नाम, प्रेम और आदि वर्ण का

रामानन्द के साथ वार्तालाप के दौरान चैतन्यदेव ने स्वयं ही कहा कि सार्वभौम से भक्तिमार्ग के बारे में पूछने पर उन्होंने ही मुझे आपके नाम का परिचय दिया था।

† कहते हैं कि सार्वभौम ने स्वयं ही मन्दिर की दीवार पर चैतन्यदेव के षड्भुज चित्र का अंकन किया था।

महत्व स्फुरित हुआ । क्षण भर में उन्होंने सैकड़ों श्लोकों की आवृत्ति कर डाली, जो कि वृहस्पति के लिए भी असाध्य था । इसे सुनकर प्रभु ने आनन्दपूर्वक उनका आलिंगन किया और वे प्रेमावेश में बाह्य चेतना खो बैठे ।" अब से वे चैतन्यदेव को अपने इष्टदेव के रूप में देखते हुए अतीव भक्तिपूर्वक उनकी सेवायत्न करने लगे ।

सार्वभौम की मति-गति में परिवर्तन देखकर सभी को बड़ा अचम्भा हुआ । चैतन्यदेव की महिमा जानकर लोगों की दृष्टि उनकी ओर आकर्षित हुई । सार्वभौम पहले अपने बहनोई गोपीनाथ आचार्य की भक्ति उपासना के लिए उनसे हँसी-ठिठोली किया करते थे । अब सार्वभौम को भक्तिभाव में लोटपोट होते देखकर गोपीनाथ विनोदपूर्वक उन्हें उनके पहले के भाव का स्मरण करा-कर आनन्द का उपभोग करने लगे । सार्वभौम के अन्तर में भक्तिभाव इतना प्रबल हो उठा कि एक बार जब चैतन्यदेव भोर के समय श्री जगन्नाथ का दर्शन करने के बाद उनके घर आये और मन्दिर से प्राप्त प्रसादी अन्न और माला उनके हाथ में दी, तो उन्होंने प्रातःकृत्य किये बगैर ही परमानन्दपूर्वक निःसंकोच उसे ग्रहण किया । (क्रमशः)

○

मानस-रोग (१३/१)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी ने रायपुर के इस आश्रम में विवेकानन्द जयन्ती के अवसरों पर 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानस-रोग' प्रकरण पर सब मिलाकर ४६ प्रवचन प्रदान किये थे। प्रस्तुत लेख उनके तेरहवें प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। –स.)

मनुष्य के शरीर में कफ, वात और पित्त, ये त्रिधातु विद्यमान हैं। इनमें से जब एक, दो या तीनों असंतुलित हो जाते हैं, तब व्यक्ति अस्वस्थ हो जाता है। और अस्वस्थ व्यक्ति की अस्वस्थता केवल उसके लिए ही नहीं वरन् उसके परिवार के लिए तथा निकटस्थ व्यक्तियों के लिए भी समस्या बन जाती है। ठीक इसी प्रकार से जब हमारे मन में असन्तुलन उत्पन्न हो जाता है तो वह असन्तुलन चाहे काम के कारण उत्पन्न हुआ हो या क्रोध के कारण अथवा लोभ के कारण, व्यक्ति रुग्ण हो हो जाता है। गोस्वामीजी अलग-अलग रोगों का विश्लेषण करते हुए उसका बड़ा सूक्ष्म चित्र मानस में प्रस्तुत करते हैं पर उसके साथ-साथ वे यह भी कहते हैं कि कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनका जीवन किसी एक दिशा में असन्तुलित दिखायी देता है। पर बहुधा दूसरी दिशा में वे असन्तुलित प्रतीत नहीं होते। देखा यह जाता है कि कभी-कभी किसी व्यक्ति में तीव्र काम की वृत्ति होती है पर वह उतना लोभी अथवा क्रोधी नहीं होता। कभी-कभी ऐसा भी दिखायी देता है कि एक व्यक्ति बड़ा लोभी है पर

उसके स्वभाव में क्रोध और काम की उग्रता नहीं दीख पड़ती। इसी तरह कोई व्यक्ति अत्यन्त क्रोधी हो सकता है पर उसमें काम या लोभ की वृत्ति उतनी प्रबल नहीं होती। तो समाज में बहुत से ऐसे व्यक्ति भी होते हैं, जो इनमें से केवल एक असन्तुलन से ही पीड़ित होते हैं। काकभुशुण्डिजी कहते हैं कि यदि इन तीनों में से किसी एक का असन्तुलन हो तो उसकी चिकित्सा करना सरल है। ऐसे व्यक्ति को स्वस्थ बनाना आसान है लेकिन यदि किसी व्यक्ति के जीवन में तीनों प्रकार के असन्तुलन आ जायँ; काम, क्रोध, लोभ तीनों प्रबल हो जाँय तो ऐसे व्यक्ति की चिकित्सा करना बहुत कठिन है। आयुर्वेद की मान्यता यह है कि कफ, वात, पित्त, इनमें से किसी एक के कुपित होने पर शरीर में ज्वर हो जाता है, पर तीनों के एक साथ कुपित हो जाने पर जो स्थिति उत्पन्न होती है उसे सन्निपात कहा जाता है। सन्निपात की चिकित्सा अत्यन्त कठिन मानी जाती है। जहाँ वातज्वर, पित्तज्वर और कफज्वर सरलता से उतर जाते हैं, वहाँ जब सन्निपात का ज्वर शरीर में आता है, तब उसे उतारना बड़ा कठिन हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि किसी के जीवन में काम, क्रोध और लोभ, तीनों का असन्तुलन उत्पन्न हो जाय तो उसे पुनः सन्तुलित करना बड़ा कठिन हो जाता है। श्रीरामचरितमानस में इसे बड़ी संवेदनशील तथा मानवीय दृष्टि से देखा गया है। एक प्रसंग में जहाँ गुरु वशिष्ठ के आदेश से श्री भरत ननिहाल से आते हैं, तो कैकेयी बड़े उत्साह से उनका स्वागत करती है। लेकिन श्री भरत दुःख और पीड़ा से परिपूर्ण अयोध्या के सारे वातावरण को देखकर अत्यन्त व्यथित हैं इसलिए

उनको इस स्वागत में सुखानुभूति नहीं होती। और वे माँ से अयोध्या में व्याप्त म्लानता का कारण पूछते हैं। कैकेयी बड़े आनन्द से अपनी सारी करतूतों का वर्णन करने लगती है। उसी समय वहाँ मन्थरा आ जाती है जो इस सारी घटनाओं की सूत्रधार है। कैकेयी यही समझ रही थी कि भरत को सिंहासन पर बिठाने के लिए मैंने इतना प्रयास किया है तो भरत के मन में मेरे प्रति बड़ी कृतज्ञता होगी कि मैंने कितना कष्ट सहकर उसे अयोध्या के साम्राज्य का उत्तराधिकारी बनाया है। और मन्थरा के हृदय में तो और भी गहरा विश्वास था कि यह सारा कार्य तो मेरे द्वारा ही सम्पन्न हुआ है, इसलिए उस अवसर पर, जब श्री भरत और कैकेयी एकान्त में मिल रहे हैं, अपनी उपस्थिति के द्वारा इस महान् कार्य में जो मैंने भूमिका निभायी है, उसे प्रदर्शित कर दूं। इस समय सामने जाने से हो सकता है कि श्री भरत सिंहासन पर बैठने से पहले ही मुझे पुरस्कार दे दें। नहीं तो कौन जाने सिंहासन पर बैठने के बाद कहीं वे मुझे भूल न जाँय। पर यहाँ तो श्री भरत अत्यन्त दुखित हो मूर्छा की स्थिति से उठ रहे हैं। उस समय मन्थरा का वहाँ पहुँचना और उसका आचरण परिवेश के सर्वथा प्रतिकूल है। उस समय सम्पूर्ण अयोध्या में शोक छाया हुआ है। महाराज श्री दशरथ की मृत्यु हो चुकी है। सभी रानियाँ विधवा वेश में हैं, प्रजा शोक वेश में है, लेकिन मन्थरा उस समय भी अपने आपको सुन्दर वेश-भूषा से सजा लेती है तथा आभूषण धारण कर लेती है। और इसी वेष में वह वहाँ पर पहुँचती है। उस समय श्री भरत तो इतने व्याकुल हैं कि कुछ कहने और सुनने की मनःस्थिति में

ही नहीं हैं। लेकिन शत्रुघ्नजी की दृष्टि मन्थरा पर पड़ जाती है।

तेहि अवसर कुबरी तहँ आई।
बसन बिभूषन बिबिध बनाई ॥ २/१६२/२

—"उसी समय विविध प्रकार के वस्त्र-आभूषणों में सजकर कुबड़ी (मन्थरा) वहाँ आ गयी।" शत्रुघ्नजी सब सुन चुके हैं। उनको ऐसा लगता है कि वह जो कुछ अनर्थ हुआ है, उसके मूल में मन्थरा है। अगर मन्थरा न होती तो सम्भवतः ये घटनाएँ भी न होतीं। इसलिए इस घटना की सबसे बड़ी अपराधिनी यही है। और शत्रुघ्नजी का दर्शन यह है कि अपराधी को कठोर से कठोर दण्ड देना चाहिए। इसलिए उन्होंने आगे बढ़कर उसके कूबड़ पर प्रहार किया। वह मुँह के बल गिर पड़ी और उसके मुँह से रक्त निकलने लगा। लेकिन इस पर भी मन्थरा सहसा कह उठी—

आह दई मैं काह नसावा।
करत नीक फलु अनइस पावा ॥२/१६२/६

—"हाय दैव ! मैंने क्या बिगाड़ा, जो भला करने का बुरा फल मिला ?" यह सुनकर शत्रुघ्नजी का क्रोध और भी बढ़ जाता है। गोस्वामीजी शत्रुघ्नजी के लिए बड़े साहित्यिक शब्दों का प्रयोग करते हैं। वे शत्रुघ्नजी का परिचय दो रूपों में देते हैं। एक तो यह कि वे भरत के छोटे भाई हैं। और अन्यत्र कहते हैं कि ये लक्ष्मण के छोटे भाई हैं। भगवान् श्रीराम लंका-विजय के पश्चात् जब अयोध्या लौटते हैं और सभी भाइयों का परस्पर मिलन होता है, तो वहाँ पर शत्रुघ्नजी और लक्ष्मणजी के मिलन को देखकर गोस्वामीजी यह लिख सकते थे कि

लक्ष्मणजी ने अपने छोटे भाई को हृदय से लगा लिया। पर उन्होंने ऐसा नहीं लिखा। क्या लिखते हैं वे ?

भरतानुज लछिमन पुनि भेंटे ।
दुसह बिरह संभव दुःख मेटे ।।७/५/१

——"श्री लक्ष्मणजी श्री भरत के छोटे भाई से गले लगकर मिले और इस प्रकार विरह से उत्पन्न दुःसह दुःख का नाश किया ।"

यही गोस्वामीजी की सजगता है । वे मानो साधारण पढ़नेवालों को सावधान कर देते हैं कि यह न समझ लेना कि लक्ष्मणजी में अपने भाई के प्रति बड़ी ममता है, इसलिए वे शत्रुघ्नजी को हृदय से लगा रहे हैं। नहीं। लक्ष्मणजी क्या देखते हैं ? अभी कुछ देर पहले ही उन्होंने श्रीराम के मुख से श्री भरत के गुण सुने हैं और उनके चरित्र से अत्यन्त प्रभावित हैं। इसलिए जब उन्होंने शत्रुघ्न को देखा तो उनके अन्तर्मन में यह सोचकर प्रेम उमड़ पड़ा कि शत्रुघ्न श्री भरत जैसे महान् सन्त और सत्पुरुष की सेवा में रहते हैं, इसलिए ये मेरे लिए अभिनन्दनीय हैं। और ऐसा मानकर लक्ष्मणजी शत्रुघ्न को हृदय से लगाते हैं। इसीलिए गोस्वामीजी कहते हैं कि लक्ष्मणजी ने अपने छोटे भाई को नहीं, श्री भरत के छोटे भाई को हृदय से लगाया। पर जब मन्थरा के प्रसंग में शत्रुघ्नजी मन्थरा पर प्रहार करते हैं तो वे लिख सकते थे कि भरत के छोटे भाई ने प्रहार किया। पर वे लिखते हैं——

लखि रिस भरेउ लखन लघु भाई ।
बरत अनल घृत आहुति पाई ।। २/१६२/३

——"उसे (सजी) देखकर लक्ष्मणजी के छोटे भाई

(शत्रुघ्नजी) क्रोध में भर गये। मानो जलती हुई आग को घी की आहुति मिल गई हो।"

लक्ष्मणजी के भाई को क्रोध आ गया, इसका अभिप्राय क्या है? यह कि इस समय शत्रुघ्नजी की भूमिका श्री भरत के चरित्र के अनुकूल नहीं है। वह श्री लक्ष्मण के चरित्र के अनुकूल है। अब दोनों की मान्यता दो प्रकार की है। और समाज में ये दोनों प्रकार की मान्यताएँ प्रचलित हैं। लक्ष्मणजी की मान्यता है कि अपराधी को तुरन्त कठोर दण्ड मिलना चाहिए। इसलिए गोस्वामीजी कहते हैं कि लक्ष्मण के छोटे भाई ने क्रोध में भरकर कुबड़ी के कूबड़ पर प्रहार किया। उन्हें लगा कि मन्थरा में दोष है कूबड़ अर्थात् कुटिलता और टेढ़ापन ही उसका दोष है। इसलिए उन्होंने पहले उसके कूबड़ पर ही प्रहार किया। पर उन्होंने देखा कि—

सुनि रिपुहन लखि नख सिख खोटी।

—"अरे, यह तो सिर से पैर तक बुरी है" पैर के नख से चोटी तक इसमें कहीं कोई अच्छाई का लेशमात्र नहीं है। और तब—

लगे घसीटन धरि धरि झोंटी ॥२/१६२/७

—"उसकी चोटी पकड़कर उसे घसीटने लगे।"

अब श्री भरत और श्री लक्ष्मण की भूमिका यहाँ पर स्पष्ट हो जाती है।

यद्यपि श्री भरतजी यहाँ पर बड़े दुखी हैं और बड़े कठोर शब्दों में कैकेयी की भर्त्सना करते हैं, पर इतना होते हुए भी जब शत्रुघ्न ने मन्थरा को कठोर दण्ड दिया तो भरतजी ने शत्रुघ्न को शाबासी नहीं दी; यह नहीं कहा कि तुमने बहुत अच्छा किया, यह दण्ड देने

योग्य ही है। यदि वे ऐसा कहते तो कोई अस्वाभाविक बात न होती, बल्कि यह प्रसंग के अनुकूल ही प्रतीत होता। लेकिन गोस्वामीजी कहते हैं कि श्री भरत ने तुरन्त शत्रुघ्नजी का हाथ पकड़ लिया और कहा —नहीं नहीं, मन्थरा को दण्ड देने की आवश्यकता नहीं है।

भरत दयानिधि दीन्हि छुड़ाई। २/१६२/८

—"तब दयानिधि श्री भरत ने उसको छुड़ा दिया।"

इस सन्दर्भ में यह जो एक दृष्टिकोण श्री भरत का है और एक श्री शत्रुघ्न का, अगर इन दोनों दृष्टिकोणों पर विचार करें तो उसका तात्पर्य यह है कि दुर्गुणों के द्वारा समाज में जो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, उसका समाधान करने के लिए बहुधा दो प्रकार के विचार सामने आते हैं। इसमें से एक मान्यता जो समाज में बहुत प्रचलित है वह यह है कि अगर समाज में अपराध को रोकना है तो अपराधी को इतना कठोर दण्ड दिया जाना चाहिए कि व्यक्ति अपराध करने का साहस ही न करे। इससे अपराध रुकता है। पर कभी-कभी ऐसा अनुभव होता है और प्रत्यक्ष भी दिखाई देता है कि कठोर दण्ड व्यवस्था के द्वारा बुराइयाँ तात्कालिक रूप से दूर होती हुई तो प्रतीत होती हैं पर वह समाधान टिकाऊ नहीं रहता। और यह दूसरी मान्यता है। अब टिकाऊ न रहने का तात्पर्य यह है कि प्रारम्भ में तो दण्ड का भय मनुष्य को अपराध करने से रोकता है पर बाद में व्यक्ति धीरे-धीरे उस भय का भी अभ्यस्त बन जाता है। जैसे इसे यों कहें कि व्यक्ति प्रारम्भ में जेल जाने से डरता है, लेकिन अगर दो-चार बार जेल हो आता है तो फिर वह उसका अभ्यस्त हो जाता है। आपको ऐसे

हजारों अपराधी मिलेंगे, जो जेल से भयभीत नहीं होते। जेल जाना भी उन्हें स्वाभाविक लगता है। और दूसरी ओर यह भी स्पष्ट दिखाई देता है कि व्यक्ति भले ही प्रारम्भ में भय के कारण बुराइयों से बचने की चेष्टा करता हो लेकिन स्वेच्छया वह बुराई से दूर रहना नहीं चाहता। तो दण्ड की व्यवस्था को लक्षणों की चिकित्सा कहा गया है। लक्षणों की चिकित्सा का अभिप्राय यह है कि जैसे अगर सिर में तीव्र पीड़ा हो रही हो और हम सिर पर कोई दवा लगा लें, तो थोड़ी देर के लिए तो सिर में ठण्डक आ जाती है या ऐसी कोई दवा खा लेते हैं, जिसके द्वारा कुछ समय के लिए हमें दर्द से छुटकारा मिल जाता है। तो यह भी एक उपाय है और इसकी भी आवश्यकता है। पर कभी-कभी ऐसी भी एक स्थिति आती है कि लोग गोली खाने के अभ्यस्त हो जाते हैं। और आजकल के चिकित्सक भी यह बताते हैं कि कुछ गोलियों की प्रतिक्रिया बड़ी बुरी होती है। तो जो शरीर के सन्दर्भ में सत्य है वही मन के सन्दर्भ में भी सत्य है। जब हम कोई तात्कालिक सरल उपाय सोचते हैं तो उससे हमें तत्काल तो बड़ा सन्तोष मिलता है पर वह दीर्घकालिक दृष्टि से कल्याणकारी सिद्ध नहीं होता। इसी तरह समाज में अपराध को रोकने के लिए दण्ड की व्यवस्था तो रहेगी पर इस तात्कालिक समाधान के बाद उस समस्या की गहराई में पैठकर उसका मूल समाधान ढूँढना पड़ेगा। उसके कारण को मिटाना होगा। तब कहीं जाकर सच्चे अर्थों में रोग या बुराइयों से छुटकारा मिलेगा।

लक्ष्मणजी अपराध को अपराध मानकर कठोर दण्ड के पक्षधर हैं। और उनके चरित्र में ऐसा दिखायी भी देता

है। वे बड़े तेजस्वी हैं, और जहां कहीं अन्याय और भूल होती है वहाँ सामान्य व्यक्ति की तो बात ही क्या, बड़े से बड़े व्यक्ति को भी वे क्षमा नहीं करते। वे उसकी भर्त्सना और किसी न किसी प्रकार उसे दण्डित करते हैं। लक्ष्मणजी का यह दण्ड-विधान एक तात्कालिक उपाय है और भरतजी का उपाय सार्वकालिक है। वे क्या उपाय करते हैं? मन्थरा को छुडा देते हैं। क्यों? श्री भरत अपराध को अपराध की दृष्टि से नहीं. रोग की दृष्टि से देख रहे हैं। रोगी के प्रति एक वैद्य की जो दृष्टि होती है वही दृष्टि श्री भरत की मन्थरा के प्रति है। वैद्य जब किसी रुग्ण व्यक्ति को देखता है, तब वह उसे औषधि और उपचार के द्वारा स्वस्थ बनाने का ही विचार करता है, उसे दण्ड देने की बात उसके मन में नहीं आती। किसी ने गोस्वामीजी से पूछ लिया—श्री राम को पा लेने के बाद श्री भरत का क्या अवदान हो सकता है? श्री राम तो साक्षात् ईश्वर हैं और ईश्वर-प्राप्ति सबसे महान् उपलब्धि है। भगवान् श्री राम की अयोध्या से लंका तक की उस लम्बी यात्रा में जिन लोगों ने श्री राम का दर्शन किया उन्हें और क्या पाना शेष रह गया था जिसकी पूर्ति श्री भरत करते हैं? तो गोस्वामीजी कहते हैं—श्री राम के दर्शन से चाहे जो भी मिला हो लेकिन एक वस्तु ऐसी थी जो श्री भरत के दर्शन से प्राप्त हुई। और वह क्या थी? गोस्वामीजी कहते हैं—श्री राम के दर्शन से तो मुक्ति मिल गयी। अयोध्याकाण्ड में यही कहा है—

जो चितए प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥ २/२१६/१
ते सब भए परम पद जोगू। २/२१६/२

——रास्ते में जो असंख्य जड़-चेतन जीव थे उनमें से जिनको भगवान् श्री राम ने देखा अथवा जिन्होंने श्री राम को देखा, वे सब परम पद के अधिकारी हो गये। ईश्वर का दर्शन मुक्ति प्रदान करता है लेकिन गोस्वामीजी यहाँ पर एक सूक्ष्म संकेत सूत्र देते हैं। वे कहते हैं कि 'मुक्ति' और 'मुक्ति का सुख' इसमें एक सूक्ष्म अन्तर है। क्या ? मुक्ति तो एक बार पा लेना सरल है पर मुक्ति के सुख की जो अनुभूति है, उसे पाना सरल नहीं है। दृष्टान्त के रूप में इसे यों कहें कि मार्ग में चलते हुए आपको संयोग से कहीं हीरा पड़ा मिल जाय तो आपको हीरा मिलने का सुख तब तक नहीं होगा, जब तक आप यह न जान लें कि यह हीरा है। जब तक यह वृत्ति बनी हुई है कि यह तो एक काँच का टुकड़ा है, तब तक वह हीरा चाहे जितना भी मूल्यवान क्यों न हो, दारिद्र्य का भाव दूर नहीं करेगा और आपको धनवान होने की सुखानुभूति नहीं होगी। रामचरित मानस के उत्तरकाण्ड में इसकी व्याख्या की गई है, ज्ञान और भक्ति के सन्दर्भ में यह प्रश्न उठाया गया कि ज्ञानी को भक्ति की आवश्यकता है या नहीं ? गोस्वामीजी कहते हैं कि ज्ञानी को भी भक्ति की आवश्यकता है। क्यों ? ज्ञानी तो मुक्त हो गया, अब उसे भक्ति की क्या आवश्यकता है ? तो इसके उत्तर में एक दृष्टान्त देते हुए वे कहते हैं——

जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई।
कोटि भाँति कोउ करै उपाई ॥
तथा मोच्छ सुखु सुनु खगराई।
रहि न सकइ हरि भगति बिहाई ॥ ७/११८/५-६

—"जैसे स्थल के बिना जल नहीं रह सकता, चाहे कोई करोड़ों प्रकार से उपाय क्यों न करें, वैसे ही हे गरुड़जी मोक्षसुख भी भक्ति को छोड़कर नहीं रह सकता।" गोस्वामीजी कहते हैं कि ज्ञान से मोक्ष तो मिलेगा पर मोक्ष-सुख की अनुभूति का आनन्द तो भक्ति से ही प्राप्त होगा। यह जो एक बात वे जोड़ देते हैं, इसका अभिप्राय क्या है? वे कहते हैं कि भइ, जब तक अखण्ड वृत्ति का बोध बना रहेगा, ब्रह्म से एकता का बोध बना रहेगा, तभी तक तो व्यक्ति को अपनी पूर्णता का बोध बना रहेगा। पर अगर यह वृत्ति खण्डित हो जाय और व्यक्ति अपने को ससीम मान ले, तब क्या परिणाम होगा? भले ही वह तत्वतः ब्रह्म से अभिन्न है, लेकिन तात्कालिक रूप में उसकी वृत्ति खण्डित हो जाने पर उसे उस सुख की अनुभूति नहीं होगी। तो किसी वस्तु की प्राप्ति और उसके प्राप्ति के सुख की अनुभूति दो अलग बातें हैं। गोस्वामीजी एक और दृष्टान्त देते हैं। और वह भी बड़ा सार्थक दृष्टान्त है। जैसे विविध प्रकार के व्यंजन लाकर कोई रख दे। तो व्यंजन तो मिल गया पर व्यंजन का सुख कब मिलेगा? व्यंजन का सुख तब मिलेगा जब भूख भी लगी हो। यदि भूख न हो और मन्दाग्नि की शिकायत हो तो व्यंजन में रस नहीं मिलेगा। इसलिए व्यंजन के स्वाद की सुखानुभूति के लिए केवल व्यंजन मिल जाना ही पर्याप्त नहीं है। इसी तरह वे कहते हैं कि भगवान् तो मुक्ति देकर चले गये पर मुक्ति का सुख भरतजी के दर्शन के बिना नहीं मिलेगा। क्यों? श्री राम के दर्शन से सब परम पद के योग्य तो हो गए पर कमी और किस बात की रह गई?

गुणमयी माया

(गीताध्याय ७, श्लोक ८-१४)

स्वामी आत्मानन्द

(रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के संस्थापक सचिव तथा 'विवेक-ज्योति' के सम्पादक ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आश्रम के रविवारीय सत्संग में श्रीमदभगवद्गीता पर २ जुलाई १९६७ से १८ जनवरी १९७६ के दौरान २१३ प्रवचन दिये थे, जिन्हें विवेक-ज्योति में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। इनमें से प्रथम ४४ प्रवचन गीतातत्त्व-चिन्तन भाग-१ तथा बाद के ३४ प्रवचन भाग-२ के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। –स.)

भगवान मानो एक प्रकार से हमारे सामने यह प्रतिज्ञा करते हैं कि 'अपने बारे में जो कुछ भी ज्ञातव्य है, मैं तुम्हें बता दूँगा।' और वे बताते हैं। अपने स्वरूप का उद्घाटन करते हैं। कहते हैं–– अर्जुन ये दो प्रकार की मेरी प्रकृतियाँ हैं। एक को अपरा प्रकृति कहते हैं और दूसरी को परा। अपरा प्रकृति जड़ात्मक है और परा प्रकृति चैतन्यात्मक। हमारे भीतर ये दोनों प्रकृतियाँ दिखाई देती हैं। यह स्थूल शरीर, हमारे भीतर स्पन्दित होनेवाला प्राण, विचार करनेवाला मन, निश्चय करनेवाली बुद्धि और कार्यों की प्रेरणा देनेवाला 'अहं'। यह सब कुछ जो दिखायी देता है, अपरा प्रकृति का कार्य है। परन्तु इन सबके पीछे एक चैतन्य सत्ता है। वह चैतन्य न हो तो ये सब किसी प्रकार का कार्य नहीं कर पाएँगे। इस सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण एक उदाहरण दिया करते थे। वे कहते हैं—चूल्हे पर कढ़ाई रखी है। उसमें तरकारी पक रही है। आलू, परवल कढ़ाई में उछल रहे हैं। छोटा बच्चा ताली बजा-बजाकर नाचता है और कहता है, 'माँ देख! देख!!

वही भूख की कमी और मन्दाग्नि के कारण यदि व्यंजन से अरुचि हो रही है तो व्यंजन परोसने के साथ ही साथ रोग भी दूर करना होगा। और तब श्री भरत ने यही किया--

जे चितए प्रभु जिन्ह प्रभु हेर ।।
ते सब भए परम पद जोगू ।
भरत दरस मेटा भव रोगू ।।२/२१६/१-२

भगवान् श्री राम के दर्शन से उन्हें मुक्ति का व्यंजन तो मिल गया, पर रोग दूर हुआ श्री भरत की कृपा से। भरत जैसे वैद्य के द्वारा जब लोगों के मन का रोग दूर हुआ, तब उन्हें मुक्ति सुख की प्रत्यक्ष अनुभूति हुई। यहीं भगवान् श्री राम और श्री भरत के चरित्र में सामंजस्य है। तो श्री भरत की भूमिका है वैद्य की और उन्होंने समस्त घटनाओं को देखा रोग के रूप में।

(क्रमशः)

○

आलू-परवल कैसे नाच रहे हैं।' माँ कहती है, 'बेटा आलू-परवलों में नाचने की क्षमता नहीं है। वास्तव में वे नहीं नाच रहे हैं बल्कि उनको नचाने वाली है आग।' तब वह चूल्हे से लकड़ी खींच लेती है। आग के न रहने से पानी का खौलना बन्द हो जाता है। आलू और परवल जो अब तक नाचते हुए दिखायी दे रहे थे, शान्त हो जाते हैं।—मन, बुद्धि, अहंकार आदि को नचानेवाला जो तत्व है, वही चैतन्य है, वही परा प्रकृति है। यदि वह चैतन्य न हो तो ये अपने आप नाच नहीं पाते। यहाँ भगवान श्रीकृष्ण उसी का उल्लेख करते हुए कहते हैं, 'अपरा और परा ऐसी दो प्रकार की प्रकृतियाँ हैं। ये दोनों मिलकर समस्त विश्व को सिक्त करती हैं। और यह जान लो कि "**अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा**" मैं सारे जगत का प्रभव अर्थात् उसकी उत्पत्ति का कारण हूँ, उसकी स्थिति और प्रलय का कारण हूँ। श्रीकृष्ण कहते हैं कि ये दोनों प्रकृतियाँ उनके संकेत पर संसार को प्रगट करती हैं, उसका पालन करती हैं और उसका संहार भी करती हैं।

यह तो बता दिया। किन्तु फिर जब अर्जुन की इच्छा भगवान श्रीकृष्ण के मन्तव्य को समझने की हुई, तब उसने कहा आप कह तो रहे हैं कि आप अपनी इन दोनों प्रकृतियों द्वारा समस्त जगत में व्याप्त हैं—**मयि सर्व इदं प्रोत सूत्रे मणिगणा इव** या कहते हैं— **मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय** जैसे किसी माले की विभिन्न मणियाँ एक ही सूत्र में गुँथी होती हैं, उसी प्रकार इस जगत में मैं ओत-प्रोत हूँ। या मुझसे परे अथवा बढ़कर और कुछ नहीं है। मानो भगवान ऊपर हैं, उनकी ये दो प्रकृतियाँ हैं और उन दोनों के मेल से यह सारा संसार उत्पन्न हुआ है।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययो :।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ।।७/८

कौतेन्य (हे अर्जुन) अहम् (मैं) अप्सु (जल में) रसः (रस) शशिसूर्ययोः (चन्द्रमा एवं सूर्य में) प्रभा (आलोक) सर्ववेदेषु (सभी वेदों में) प्रणवः (ओंकार) ख (आकाश में) शब्द (शब्द) नृषु (मनुष्यों में) पौरुषं (पौरुष) अस्मि (हूँ)।

"हे अर्जुन ! मैं जल में रस हूँ, चन्द्रमा एवं सूर्य में आलोक हूँ, सर्व वेदों में ओंकार हूँ, आकाश में शब्द हूँ तथा मनुष्यों में पौरुष हूँ।"

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु।।७/९

पृथिव्यां (पृथ्वी में) पुण्यो (पवित्र) गन्धः (गन्ध) च (और) विभावसौ (अग्नि में) तेजः (तेज) अस्मि (हूँ) सर्वभूतेषु (सभी प्राणियों में) जीवनम् (जीवन) च (तथा) तपस्विषु (तपस्वियों में) तपः (तपस्या) अस्मि (हूँ)।

"मैं पृथ्वी में पवित्र गन्ध, अग्नि में तेज, सभी प्राणियों में जीवन तथा तपस्वियों में तप हूँ।"

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।।७/१०

पार्थ (हे अर्जुन) माम् (मुझे) सर्वभूतानामम् (सभी प्राणियों का) सनातनम् (सनातन) बीजम् (बीज) विद्धि (समझ) अहम् (मैं) बुद्धिमताम् (बुद्धिमानों की) बुद्धिः (बुद्धि) (तथा) तेजस्विनाम् (तेजस्वियों का) तेजः (तेज) अस्मि (हूँ)।

"हे अर्जुन ! मुझे समस्त प्राणियों का सनातन बीज समझ। मैं (ही) बुद्धिमानों की बुद्धि तथा तेजस्वियों का तेज हूँ।"

अर्जुन का प्रश्न है—प्रभु हम आपको पहचानें कैसे ? आप तो सर्वत्र व्याप्त हैं किन्तु हम किस प्रकार

आपको उपस्थिति को जानें? किस प्रकार आपको प्राप्त करें? भगवान यहाँ पर अपनी उपस्थिति की उपलब्धि का सूत्र बताते हैं— मैं जल में रस हूँ। सूर्य और चन्द्रमा में उनकी प्रभा हूँ। वेदों में ओंकार हूँ। इस प्रकार वे प्रत्येक वस्तु का सारतत्त्व स्वयं को बताते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँच गुण या विषय हैं और पाँच इन्द्रियाँ इनको जानने के साधन हैं। शब्द आकाश का गुण है, स्पर्श वायु का गुण है, रूप अग्नि का गुण है, रस जल का गुण है और गन्ध पृथ्वी का गुण है। ये पाँच तत्त्व जिन्हें तुम देखते हो मेरा एक-एक गुण है और वह गुण मैं हूँ। आकाश में तुम मुझे शब्द के रूप में देखो, वायु में मेरी पहचान स्पर्श के रूप में करो, अग्नि में तुम मुझे तेज के रूप में देखो, जल में मुझे रस के रूप में अनुभव करो और पृथ्वी में मुझे गन्ध के रूप में देखो। इस प्रकार भगवान ने यहाँ अपनी भिन्न-भिन्न विभूतियों का वर्णन किया है। ग्यारहवें श्लोक में तो यहाँ तक कहा है—

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥७।११

भरतर्षभ (हे भरतश्रेष्ठ) अहम् (मैं) बलवतां (बलवानों की) कामरागविवर्जितम् (कामना व आसक्ति से रहित) बलम् (शक्ति) च (और) भूतेषु (प्राणियों में) धर्म-अविरुद्धः (धर्म-सम्मत) कामः (काम) अस्मि (हूँ)।'

"हे अर्जुन! मैं बलवानों में कामना और आसक्ति से रहित बल हूँ और सर्व प्राणियों में धर्मसम्मत काम हूँ।"

मैं बलवानों में बल हूँ किन्तु '**कामरागविवर्जितम्**' कामना और आसक्ति से रहित ऐसा बल हूँ। इसका अर्थ

यह हुआ कि बल शुद्ध और अशुद्ध होता है। मान लीजिए मैं बलवान हूँ और यदि मैं अपने बल का दुरुपयोग करता हूँ—अपनी कामना पूर्ति के लिये, अपनी आसक्ति के लिये अपने बल का प्रयोग करता हूँ तो वह बल अशुद्ध हो गया। किन्तु यदि मैं अपने बल का सदुपयोग करता हूँ तो भगवान कहते हैं—वह बल तू मुझे ही जान। वे तो यहाँ तक कहते हैं— **धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।** मनुष्यों में धर्म के अविरुद्ध (धर्मसम्मत) काम मैं ही हूँ। हमारी हिन्दू संस्कृति में चार पुरुषार्थ माने गये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। जैसे धर्म, अर्थ और मोक्ष को पुरुषार्थ माना गया है वैसे ही काम को भी एक पुरुषार्थ माना गया है। अर्थ और काम का नियन्त्रण धर्म के द्वारा होना चाहिए, ताकि वे हमें मोक्ष पुरुषार्थ तक पहुंचा दें। अर्थ और काम में गति है, सक्रियता है। धर्म के पास दिशा है और मोक्ष रूपी लक्ष्य है। धर्म के बिना विज्ञान अपूर्ण है और विज्ञान के बिना धर्म अधूरा है। आइन्सटीन ने एक बात कही है— "Religion is blind and science is lame without religion." पर हम लोग इस बात को थोड़ा उल्टा कर लेते हैं। हम यह कहते हैं कि धर्म के पास आँखें हैं। आइन्सटीन ने कहा कि धर्म यदि विज्ञान को अपने साथ न ले तो वह अन्धा है। और यदि विज्ञान धर्म को अपने साथ न ले तो वह लंगड़ा है। अपने सन्दर्भ में उनकी बात भी सही, किन्तु मैं इसे उल्टा करके देखता हूँ। इस सन्दर्भ में मैं जो उदाहरण आपके समक्ष रख रहा हूँ वह अधिक सटीक लगता है। मैं यह मानता हूँ कि धर्म के पास आँखें हैं। पर उसके पास चलने के लिये पैर नहीं हैं। विज्ञान के

पास पैर हैं किन्तु देखने के लिये आँखें नहीं हैं। किन्तु यदि ये दोनों एक साथ मिल जाएँ तो गति और दिशा का योग हो जाय। जीवन में हमें दोनों चाहिए—Motion (गति) भी और Direction (दिशा) भी। केवल एक के द्वारा जीवन का काम नहीं बन सकता। उस उदाहरण का स्मरण करें जिसे हमने बहुत पहले किसी पुस्तक में पढ़ा था। जब कभी धर्म और विज्ञान के परस्पर सहयोग की बात कही जाती है तब मैं प्रायः यह उदाहरण दिया करता हूं। किसी गाँव में आग लगी। सभी लोग भागने लगे। केवल दो नहीं भाग पा रहे थे। एक था अन्धा और दूसरा था लंगड़ा। अन्धा आग की लपटों का अनुभव तो करता था किन्तु उसे भागने का रास्ता नहीं सूझ रहा था और उधर लगड़ा रास्ता तो देख पा रहा था, किन्तु उसके पास भागने को पैर नहीं थे। उसने चिल्लाकर सूरदास को पुकारा और कहा--भाई मेरी आवाज सुनकर तुम मेरे पास आ जाओ। अन्धा पास आ गया। लंगड़े ने उससे कहा—भाई तुम मुझे अपने कन्धों पर बिटा लो मैं तुम्हें रास्ता बताता जाऊँगा और तुम भागते चलना। इस प्रकार दोनों ने परस्पर सहयोग किया और दोनों ही बच निकले। इस उदाहरण में लंगड़ा धर्म है और अन्धा विज्ञान। इन दोनों का समन्वय इसी प्रकार हो सकता है। विज्ञान हमारे जीवन को गति देगा और धर्म दिशा प्रदान करेगा।

अर्थ व काम जीवन को गति देते हैं और धर्म के पास आँखें हैं। अर्थ हमें दौड़ाता है, काम सक्रिय करता है। धर्म कहता है तुम सक्रिय तो हो मैं तुम्हें दिशा देता हूँ, रास्ता दिखाता हूँ। उस रास्ते पर तुम चलो तभी तुम परम लक्ष्य मोक्ष तक पहुँच सकोगे। धर्म लक्ष्य और लक्ष्य पर पहुँचने

क मार्ग को भलीभाँति जानता है। यहाँ पर यही कहा गया है, 'हे अर्जुन धर्म के अविरुद्ध जीव के भीतर जो काम है वह मेरा ही स्वरूप है।' यहाँ मानों भगवान अपने अस्तित्व का बोध करा देना चाहते हैं। मानों कहते हैं कहाँ तक कहूँ ! वैसे बाद में दसवें और ग्यारहवें अध्याय में वे पुनः सविस्तार अपनी विभूति बताएँगे ही। अब भगवान कह रहे हैं—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ।। ७/१२

च (और) एव (भी) ये (जो) सात्त्विकाः (सात्त्विक) राजसाः (राजसिक) च (तथा) तामसाः (तामसिक) भावाः (भाव) (हैं) तान् (उन्हें) मत्तः (मुझसे) एव (ही) (उत्पन्न) इति (ऐसा) विद्धि (समझ) तु (लेकिन) अहम् (मैं) तेषु (उनमें) न (नहीं) ते (वे) मयि (मुझमें) (हैं)।

और भी जो सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भाव हैं, उन्हें तू मुझसे ही उत्पन्न समझ। वे भाव मुझमें हैं, परन्तु मैं उनमें नहीं।

सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण। सत्वगुण का धर्म है—प्रकाश, रजोगुण का धर्म है गति, क्रिया और तमोगुण का धर्म है अवसन्नता, निष्क्रियता। इन तीनों गुणों से संसार बना हुआ है। इन तीनों गुणों की जीवन में आवश्यकता होती है। हमें जीवन में प्रकाश अर्थात् ज्ञान चाहिए, हम आनन्द चाहते हैं और यह सब सत्वगुण का धर्म है। हम सभी ज्ञान की उपलब्धि चाहते हैं। कौन ऐसा व्यक्ति है जो ज्ञान नहीं चाहता ? एक अपढ़ व्यक्ति भी जानने को उत्सुक है। और जब वह जान पाता है तो उसे कितना

आनन्द होता है। जब मैं विद्यार्थी था, नागपुर में पढ़ता था, उस समय उस नगर में विद्यार्थियों का एक दल बना था—'ग्रामीण सेवादल'। इसका काम था रविवार के दिन किसी गाँव में चले जाना, घण्टे-दो घण्टे उस गाँव की सफाई करना तथा उस गाँव के निरक्षर प्रौढ़ों को एक घण्टा पढ़ाना। नागपुर के पास ही खापरी नाम का एक गाँव है। हम लोग उसी गाँव में जाते थे। वहाँ एक बूढ़ा था। हमारे प्रयत्नों से उसने अपना नाम लिखना सीख लिया। जिस समय वह अपना नाम लिखने में समर्थ हुआ उस समय उसकी आँखों में जो ज्योति आयी, उसके अधरों पर जो मुस्कान खिली, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। अपना नाम लिख सकने के ज्ञान से उसे इतना आनन्द हुआ जो वर्णनातीत है। तात्पर्य यह कि ज्ञान आनन्द देता है। जहाँ भी ज्ञान का उदय होता है उसकी अभिव्यक्ति आनन्द में होती है। अतः सत्वगुण का धर्म है—ज्ञान, आनन्द। उसी प्रकार रजोगुण का धर्म है—सक्रियता, कर्मठता। और तमोगुण का धर्म है—आलस्य, शिथिलता व प्रमाद। इन सभी की जीवन में आवश्यकता होती है। सोने के समय हमें तमोगुण का आधिक्य चाहिए। जब हम पढ़ते-लिखते हैं या विचार-चिन्तन करते हैं तब हमें सत्वगुण चाहिए। हर समय तो हम निष्क्रिय रह नहीं सकते। संसार के कर्म करने के लिए हमें रजोगुण चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमें इन तीनों गुणों की आवश्यकता है। गड़बड़ी तब होती है जब आवश्यकता के विपरीत कोई गुण प्रबल हो जाय। जैसे आप अभी बैठकर कथा सुन रहे हैं। चाहिए तो यह कि इस समय आपमें सत्वगुण प्रबल हो। किन्तु प्रायः ऐसा भी हो जाता है कि

प्रवचन सुनते समय कभी-कभी नाक बजने लगती है। यहाँ तमोगुण गलत समय पर प्रबल हो गया। वैसे ही रात में सोने के समय तमोगुण को प्रबल होना चाहिए, किन्तु किसी-किसी व्यक्ति में रात को रजोगुण अधिक प्रबल हो उठता है, तब वे सो नहीं सकते, छटपटाते रहते हैं। उसी प्रकार कुछ विरल व्यक्तियों में रात में सत्वगुण प्रबल हो जाता है, तो वे लोग चिन्तन-मनन, पठन-पाटन आदि में रात व्यतीत करते हैं। यह सब गलत समय में गुणों का प्रबल होना है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य के जीवन में इन तीनों गुणों की आवश्यकता है तथा उनके प्राबल्य व न्यूनता का समय भी निर्धारित है। भगवान कहते हैं कि ये तीनों गुण मुझसे ही निकले हैं—**'मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।'** यहाँ इसका अर्थ करने में यह जो न शब्द है उसे दोनों जगह लगा दिया गया है। संस्कृत में ऐसी रचना चलती है। **न तु अहं तेषु** और **न ते मयि** इसका अर्थ यह हुआ कि न तो मैं उनमें हूँ और न वे मुझमें हैं। और यदि एक ही न लेकर अर्थ करें—**न तु अहं तेषु**—मैं उनमें नहीं हूँ, वे मुझमें हैं। ये दोनों अर्थ अपने अपने ढंग से ठीक हो सकते हैं। तो पहले उसे ले लें जैसा कि यहाँ पर आया है—**न तु अहं तेषु ते मयि**—मैं उनमें नहीं हूँ वे मुझमें हैं अर्थात् यह जो कुछ भी है वह तो सीमित है और मुझे उनके द्वारा सीमित नहीं किया जा सकता, किन्तु यह जो कुछ भी है वह मुझ असीम में समाया हुआ है। एक अर्थ यह हो सकता है कि परमात्मा तो असीम है उसके भीतर सभी आते हैं। किन्तु यह जो गुण कहा गया है उसका तात्पर्य यह है कि तुम मुझे उन गुणों में ही सीमित करके मत देखो।

वैसे तो हम पढ़ते हैं कि परमात्मा सभी के भीतर हैं। फिर भगवान ने ऐसी बातें क्यों कहीं? इसीलिये व्याख्या में थोड़ा अन्तर कर दिया गया है। यहाँ दूसरी व्याख्या है। इसी न को एक ही बार लेते हुए यदि इसी बात पर जोर देते हुए कहा जाय कि भगवान यह कैसे कह रहे हैं कि मैं उनमें नहीं हूँ, जबकि हमें यही सिखाया गया है कि भगवान सबके भीतर हैं। तो भगवान श्रीकृष्ण का तापर्त्य यह हो सकता है—'वैसे तो सभी के भीतर में ही विद्यमान हूँ, पर मुझे किसी के भीतर सीमित करके मत देखो। कोई वस्तु मुझे सीमित नहीं कर सकती।' यह दावा कोई नहीं कर सकता कि मैंने समूचे ईश्वर को अपने भीतर ले लिया है। यदि कोई ऐसा कहता है तो यह केवल उसकी दम्भोक्ति ही है। विभिन्न धर्म जब यह दावा करने लगते हैं कि हमने ही ईश्वर को ठीक-ठीक जाना है, तभी धर्मों में परस्पर लड़ाइयाँ होती हैं जो आज भी हो रही हैं। ये लड़ाइयाँ क्यों होती हैं? इसलिए कि मनुष्य यह सोचता है कि मैंने ईश्वर को पूरी तरह जान लिया है। यह मानव बुद्धि की कैसी विडम्बना है। मनुष्य का मन तो सीमित है फिर यह सीमित मन भला कभी उस असीम को पूरी तरह जान सकता है? मनुष्य परमात्मा के एक छुद्र अंश को जानकर ही तृप्त हो जाता है। सत्संग चल रहा था। श्रीरामकृष्णदेव से किसी भक्त ने पूछा—'महाराज क्या समूचे परमात्मा को नहीं जाना जा सकता?' श्रीरामकृष्णदेव ने हँसकर कहा, 'तुम समूचे परमात्मा को लेकर इतना माथापच्ची क्यों करते हो, थोड़ा-सा पा लेने पर ही तो तृप्त हो जाओगे। एक कहानी सुनो—एक शक्कर के पहाड़ पर एक चींटी पहुँच गई। उसने शक्कर का एक दाना अपने मुंह में दबाया

और अपने बिल की ओर चल पड़ी । चलते-चलते सोचने लगी कि अब की बार लौटकर पूरा पहाड़ ही अपने बिल में ले जाऊँगी । एक दाने से ही चींटी सन्तुष्ट हो जाएगी । उसे पूरा पहाड़ उठाने की न कोई आवश्यकता है और न ही उसमें क्षमता है । इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति कहे कि मैं सम्पूर्ण ईश्वर को जान लूँगा, तो यह सम्भव भी नहीं है और न ही उसकी आवश्यकता है ।' उसी दृष्टि से भगवान यहाँ कह रहे हैं—**न तु अहं तेषु**—मैं उनमें नहीं हूँ । वे मुझे सीमित नहीं कर सकते । **ते मयि** वे मुझमें हैं । मुझ असीम परमात्मा में सब कुछ समाया हुआ है । यह तो हुआ एक अर्थ ।

दूसरा अर्थ यह है कि न तो मैं उनमें हूँ और न वे मुझमें हैं । इसका अर्थ क्या है ? मान लीजिए कि एक रस्सी पड़ी है और उस रस्सी में हमें साँप का भ्रम हो गया । अब प्रश्न उठता है कि रस्सी में साँप है या साँप में रस्सी है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि दोनों गलत है । न रस्सी में साँप है और न साँप में रस्सी है । साँप और रस्सी का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है । ठीक इसी प्रकार भगवान यह बताना चाहते हैं कि यह जो भावात्मक जगत दिखाई देता है उससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है । मैं उससे परे हूँ । मानों यहाँ पर वे अपना Transeendental अर्थात् सर्वातीत भाव दिखा रहे हैं । एक सर्वात्मक और दूसरा सर्वातीत—ये दो शब्द दर्शन में चलते हैं । सर्वात्मक अर्थात् Immanent । ये दोनों अर्थ अपने-अपने ढंग से ठीक हैं । भक्त पहले अर्थ को लेता है, ज्ञानी दूसरे को । जिसमें ज्ञान की वृत्ति प्रबल है वह कहता है कि एकमात्र परमात्मा को छोड़कर और कुछ भी नहीं है । यह दृश्य

जगत मिथ्या है। जैसा कि आचार्य शंकर मुण्डक उपनिषद के अपने भाष्य में कहते हैं— **कदलीदल गर्भस्वनजल-बुद्बुद्फेनसमान प्रतिक्षण प्रध्वंसात** —ये उनके शब्द हैं—जलबुद्‌बुद के समान, फेन के समान। ज्ञानी यह कह सकता है। किन्तु अधिकाश लोगों में ज्ञान की प्रबलता नहीं होती अपितु भक्ति की ही प्रधानता होती है। इसलिए यहाँ पर यह अर्थ कि 'मैं उनमें नहीं हूँ वे मुझमें हैं' ही ठीक लगता है। उसके बाद अब भगवान कहते हैं—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।

मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥७।१३

एभिः (इन) त्रिभिः (तीन प्रकार के) गुणमयैः (गुणमय) भावैः (भावों से) इदम् (यह) सर्वम् (सारा) जगत् (संसार) मोहितम् (मोहित है) (अतः) एभ्य (इनसे) परम् (परे) माम् (मुझ) अव्ययम् (अविनाशी को) न (नहीं) अभिजानाति (जानता)।

इन तीन गुणमय भावों से यह सारा संसार मोहित हो रहा है, अतः वह इनसे परे मुझ अविनाशी को नहीं जानता।

यह सम्पूर्ण जगत् सत्व-रज-तम इन तीनों गुणों से ही हुआ है, उन्हीं का खेल है तथा (संसार) इन गुणों से मोहित हो जाने के कारण—**न अभिजानाति** (मुझे) जान नहीं पाता।

ईश्वर इन तीनों गुणों से परे हैं। यह बात तो समझ में आती है कि ईश्वर तमोगुण और रजोगुण से परे हैं पर यहाँ एक प्रश्न मन में उठता है कि क्या वे सत्वगुण से भी भी परे हैं? क्योंकि सत्वगुण तो ईश्वरीय गुण ही लगता है। श्रीरामकृष्णदेव इस सम्बन्ध में एक कहानी बताया

करते थे—एक बार एक बटोही अपने गाँव से एक दूसरे गाँव को जा रहा था। दोनों गाँवों के बीच घना जंगल पड़ता था। जब वह जंगल के बीच में पहुँचा तो अचानक तीन डाकुओं ने उसे घेर कर उसका सब कुछ लूट लिया। तत्पश्चात् एक ने कहा कि अब इसे मार डालो, किन्तु दूसरे ने कहा कि नहीं इसे मारो मत, बाँधकर यहीं छोड़ दो। सबने उसकी बात मान ली तथा उसे बाँध कर वहीं छोड़ वे वहाँ से चले गए। बटोही बेचारा भय और दुख से रोता वहीं पड़ा रहा। इतने में उसने देखा कि उन डाकुओं में से एक लौटकर उसके पास आ रहा है। पास आकर उस तीसरे डाकू ने कहा, 'भाई, तुम्हें बड़ा कष्ट हो रहा है, लाओ मैं तुम्हारे बन्धन खोल दूँ।' यह कहते हुए उसने बटोही के बन्धन खोल दिये तथा उसे रास्ता दिखाकर जंगल के बाहर तक पहुँचाकर बोला, 'वह देखो सामने गाँव है, सीधे इस रास्ते से चले जाओ।' बटोही ने कहा, 'भाई, बन्धन खोलकर तुमने मेरे प्राण बचाये हैं। तुम भी मेरे साथ मेरे गाँव चलो। मैं वहाँ तुम्हारी सेवा करूँगा।' डाकू ने कहा, 'नहीं भाई, मैं इस सीमा के पार नहीं जा सकता। अब तुम्हें अकेले ही इस रास्ते पर चलना होगा।' श्रीरामकृष्ण कहते हैं—'यह जो बटोही है वह है जीव और तीनों डाकू हैं सत्व, रज और तमोगुण। यह संसार है अरण्य। जीव को अपने असली गाँव ईश्वर के पास जाना है। संसार अरण्य में तीन डाकुओं ने उसे पकड़ लिया है। तमोगुण कहता है—इसे मार डालो। रजोगुण कहता है—मारो मत, इसे बाँधकर रख दो। वह बन्धन में डाल देता है। सत्वगुण बन्धन खोल देता है, ईश्वर के पास जाने का रास्ता दिखा देता है। सत्वगुण जीव को

ईश्वर के पास जाने का रास्ता तो दिखा देता है, किन्तु वह उसे ईश्वर तक पहुँचा नहीं सकता। सत्वगुण को लाँघकर ही जीव को ईश्वर के पास पहुँचना पड़ता है। यही बात भगवान ने अर्जुन से यहाँ कही है कि मैं तीनों गुणों से परे हूँ। लोग यह बात जानते नहीं हैं, इसीलिए मोहित हो रहे हैं। तो फिर इस माया के फन्दे से बचने के लिए हम क्या करें? अगले श्लोक में भगवान यही बताते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥७/१४

हि (क्योंकि) एषा (यह) मम (मेरी) दैवी (अलौकिक) गुणमयी (त्रिगुणात्मिका) माया (माया) दुरत्यता (दुर्गम है) (पर) ये (जो) माम् (मुझे) एव (ही) प्रपद्यन्ते (भजते हैं) ते (वे) एताम् (इस) मायाम् (माया को) तरन्ति (पार कर लेते हैं)।

क्योंकि मेरी इस अलौकिक गुणमयी माया को पार करना दुष्कर है, पर जो लोग मुझे ही भजते हैं वे इस माया को पार कर लेते हैं।

बड़ा प्रसिद्ध श्लोक है यह गीता का। इसका अर्थ है मेरी यह अद्भुत माया '**दुरत्यया**'—पार करने में अत्यन्त कठिन है। दैवी है अर्थात् देव से सम्बन्धित है। गुणमयी है। गुणमयी के दो अर्थ किये जाते हैं। एक तो सत्व, रज, तम ये गुण। यह माया इन तीन गुणों से बनी है। गुण का और एक अर्थ होता है रस्सी। माया बाँधती है इसलिए उसे गुणमयी कहा गया है। माया इसलिए दैवी कही गयी है, क्योंकि यह मेरी माया है। तो क्या कोई इस माया को पार नहीं कर सकता? नहीं। भगवान कहते हैं—'**मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामतां तरन्ति ते**—जो मेरी शरण में आते हैं वे इसे पार कर जाते हैं। भगवान ने यहाँ बड़ी गूढ़ार्थ-वाली बात कही है। माया शब्द पहली बार ही यहाँ आया

है। माया शब्द का अर्थ क्या है? इसका एक अर्थ होता है इन्द्रजाल। एक जादूगर इन्द्रजाल से भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुएँ दिखाता है। किन्तु जो वस्तुएँ वह दिखाता है वास्तव में वे हैं नहीं। दूसरा अर्थ है भ्रम, जैसे मृगतृष्णा। मृगतृष्णा में हमें जल दिखता तो है, किन्तु वास्तव में वहाँ जल नहीं होता। यह भ्रम है।

माया भगवान की है इसलिए उनके पास जाते ही यह दूर हो जाती है। यदि दैवी नहीं होती तो हम ऐसा मान लेते कि इसका कभी नाश नहीं हो सकता। भगवान कहते हैं कि यह मेरी माया है, इसीलिए जो मेरे पास आते हैं या मेरी शरण में आते हैं, उनके लिये यह समाप्त हो जाती है। इस सम्बन्ध में दो उदाहरण दिये जाते हैं। पहले में एक मछुआ जाल फेंककर मछली पकड़ रहा है। कुछ मछलियाँ चतुर हैं, जो मछुए के पैरों के पास ही घूम रही हैं। वे कभी जाल में नहीं फँसतीं, क्योंकि मछुए का पैर तो सदैव जाल के बाहर ही रहता है। उसी प्रकार यदि व्यक्ति मायाधीश की शरण में चला जाय तो माया उस पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकती।

दूसरा उदाहरण यह है—एक महिला चक्की में गेहूँ पीस रही है। गेहूं के साथ घुन भी पिसे जा रहे हैं। पर जो घुन चक्की की कील से चिपक जाता है, वह नहीं पिसता। ठीक उसी प्रकार जो ईश्वर के चरण पकड़ लेता है, उनकी शरण ग्रहण कर लेता है, वह माया के प्रभाव से बच जाता है। उससे तर जाता है।

माया का एक दार्शनिक गूढ़ार्थ भी है। उसमें से वह अंश जो अपने जीवन से सम्बन्धित है, उसे आपके समक्ष रखता हूँ। श्रीरामकृष्ण तथा उनके वेदान्त-गुरु श्रीमत्

तोतापुरीजी दोनों ही माया को दो भिन्न दृष्टिकोणों से देखा करते थे। तोतापुरीजी की दृष्टि में माया थी मिथ्या प्रपंच। त्रिकाल में उसका अस्तित्व नहीं था। यह अद्वैत-वादी ज्ञानियों के सम्प्रदाय का मत है।

श्रीरामकृष्ण भी ज्ञानी थे, किन्तु उन्होंने माया को भिन्न दृष्टि से देखा। उन्होंने माया को माँ कहकर पुकारा। उन्होंने कहा—माया ईश्वर की शक्ति हैं। महाकाल की की शक्ति हैं काली। काली और ब्रह्म अभेद हैं। गुरु-शिष्य के बीच बड़ा तर्क होता था। श्रीरामकृष्ण ने भी अद्वैत वेदान्त की साधना की थी, निर्विकल्प समाधि लाभ की थी। किन्तु वे अपनी इष्टदेवी काली को कभी नहीं भूले। वे सदा उनकी भक्ति करते रहे। वे कहा करते थे—जैसे ब्रह्म सत्य है वैसे ही उसकी शक्ति भी सत्य है। ब्रह्म और शक्ति अभेद हैं।

तोतापुरी शक्ति को नहीं मानते थे। वे कहते थे कि अज्ञान तथा गलत संस्कारों के कारण ही रामकृष्ण पत्थर की प्रतिमा को माँ कहकर पुकारते हैं। प्रातः-सन्ध्या श्रीरामकृष्ण जब ताली बजाकर माँ काली का नाम गुण-गान करते, तो तोतापुरीजी कहते—अरे क्या रोटी ठोकते हो। श्रीरामकृष्ण कहते—मैं तो माँ का नाम करता हूँ। अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति, दूध और उसकी धवलता के समान ब्रह्म और उसकी शक्ति अभिन्न है। मेरी माँ ही ब्रह्म की शक्ति हैं। किन्तु तोतापुरीजी यह न मानते थे। किन्तु महामाया की माया के चलते तोतापुरी जी को एक दिन बाध्य हो यह तथ्य मानना पड़ा। तोतापुरी जी समाधिवान ब्रह्मज्ञ पुरुष थे। वे दक्षिणेश्वर में लगभग ग्यारह महीने रहे। प्रतिदिन रात्रि के समय वे धूनी जला-

कल रातभर समाधि में मग्न रहते थे। एक बार उन्हें आँव की बीमारी हो गयी। इसके फलस्वरूप एक रात उनके पेट में बड़ा दर्द होने लगा। शरीर को भूलकर उन्होंने अपने मन को समाधि में डुबा देने का प्रयास किया, किन्तु उस रात उनका मन किसी भी प्रकार समाधि में न लगा। तब उन्होंने सोचा कि इस शरीर के कारण ही मेरा मन समाधि में नहीं लग रहा है, अतः इस शरीर को गंगा में विसर्जित कर देना चाहिए। यह सोचकर वे दक्षिणेश्वर के घाट पर गंगा में उतर पड़े। गंगा वहाँ बड़ी गहरी हैं। उनमें जहाज चलते हैं। तोतापुरीजी गंगा में आगे बढ़ते गये। बढ़ते-बढ़ते लगभग दूसरा किनारा आ गया, किन्तु गंगा में उन्हें घुटने भर से अधिक पानी नहीं मिला। उन्होंने पीछे मुड़कर देखा। दूर उस पार दक्षिणेश्वर का मन्दिर है। पंचवटी के नीचे उनकी धूनी जल रही है। कैसा आश्चर्य! वे पुनः लौटकर पंचवटी के नीचे अपने स्थान पर आ गये। उस दिन उन्हें माँ काली के सत्य का भी बोध हो गया। सारी रात वे माँ के चिन्तन में डूबे रहे। प्रातःकाल वे भी अपने प्रिय शिष्य रामकृष्ण की भाँति ही तालियाँ बजाकर माँ का नाम लेने लगे। प्रातःकाल श्रीरामकृष्ण जब अपने गुरु को प्रणाम करने आये तब उन्होंने देखा कि आज तो गुरु भी तालियाँ बजा-बजाकर माँ का नाम ले रहे हैं। श्रीरामकृष्ण से हँसते हुए कहा—आज तो आप भी रोटियाँ ठोक रहे हैं। तोतापुरीजी ने कहा—तू ठीक कहता है। तेरी माँ ने आज मुझे दिखा दिया कि वे भी सत्य हैं। अर्थात् यह जगत् भी ब्रह्म का ही प्रकाश है, उसी की शक्ति है।

भक्तों ने पूछा—महाराज माया जब सब को मोहित करती है, तब क्या ईश्वर भी उससे मोहित नहीं होते?

श्रीरामकृष्ण ने कहा—नहीं, और एक उदाहरण दिया—जैसे साँप के मुँह में विष होता है। वह जिसे काटे वह तो मर जाता है, किन्तु स्वयं साँप पर उस विष का कोई प्रभाव नहीं होता। ठीक उसी प्रकार ईश्वर की माया से अन्य सभी लोग मोहित हो जाते हैं, किन्तु स्वयं ईश्वर उससे प्रभावित नहीं होते।

माया कैसी है यह समझाने के लिए दो रोचक कथाएँ हैं। पहली कथा भीमसेन के सम्बन्ध में कही जाती है। एक बार वे श्रीकृष्ण से बहुत प्रभावित हुए। उन्हें मानो भाव हो गया। वे रात में जोर जोर से कीर्तन करने लगे। उनके कीर्तन से दूसरों की नींद में बाधा पड़ने लगी। सब ने कहा——भैया, भगवान का कीर्तन तो ठीक है, पर आप के कीर्तन से हम सब की नींद हराम हो रही है। कृपया अब कल दिन में कीर्तन करना। भीमसेन कीर्तन बन्द तो नहीं करना चाहते थे, किन्तु क्या करें। औरों का ख्याल कर उन्होंने उस समय कीर्तन बन्द कर दिया। दूसरे दिन वे नगर के बाहर एक वन में चले गये तथा वहाँ जी भर कर कीर्तन करने लगे। थोड़ी देर में पास ही के गाँव का एक कुम्हार वहाँ आया और उन्हें देखकर प्रणाम किया। भीमसेन ने पूछा—तुम कौन हो और यहाँ क्यों आये हो ? कुम्हार ने कहा—महाराज यदि सच बात कहूँ, तो आप दण्ड तो न देंगे ? भीमसेन ने कहा——नहीं, मैं तुम्हें किसी प्रकार का दण्ड नहीं दूँगा। इस पर कुम्हार बोला—मुझे तो यह मालूम नहीं था कि आप यहाँ कीर्तन कर रहे हैं। मेरा गधा जंगल की ओर भाग आया था। मैंने आवाज सुनी और उसे ढूँढता हुआ इधर आ निकला तो देखा कि आप यहाँ कीर्तन कर रहे हैं। यह कहकर कुम्हार वहाँ

से भाग गया। भीमसेन को यह बात बहुत बुरी लगी और वे रोने लगे। रोते रोते उलाहना के स्वर में वे कहने लगे—प्रभो, कहाँ तो मैं तुम्हारा कीर्तन कर रहा था और इस कुम्हार ने उसे गधे का रेंकना समझ लिया! तुमने मेरी ऐसी दुर्दशा करा दी। तभी भगवान कृष्ण आकर वहाँ उपस्थित हुए। उन्होंने पूछा—अरे भीमसेन, तुम इतने उदास क्यों हो? भीमसेन ने सारी बातें कह दी। तब भगवान ने कहा—देखो तुम्हारा कीर्तन सुन कर मैं स्वयं ही यहाँ आ गया। मैं तुमसे अत्यन्त प्रसन्न हूँ। दूसरे लोग क्या कहते हैं, तुम इसकी चिन्ता क्यों करते हो? भीमसेन शान्त हुए और बोले—भगवन्, यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो कृपा कर मुझे आपकी माया क्या है यह दिखा दीजिए। भगवान ने कहा—तथास्तु! कुछ दिन बीत गये। एक दिन रात्रि में भीमसेन यह देखने निकले कि प्रहरीगण ठीक पहरा देते हैं या नहीं। उस समय द्रौपदी युधिष्ठिर के भवन में थी। भवन का एक झरोखा खुला था। अकस्मात् भीमसेन की दृष्टि उधर पड़ी और उन्होंने देखा कि युधिष्ठिर द्रौपदी के पैर दबा रहे हैं। यह देखकर उन्हें बड़ी ग्लानि हुई। क्रोध भी आया। सोचने लगे ये कैसे धर्मराज है? इतने बड़े सम्राट् होकर अपनी पत्नी के पैर दबा रहे हैं। सहा नहीं जा रहा था भीमसेन से, पर कुछ कर भी नहीं पा रहे हैं। अन्दर ही अन्दर कुढ़ रहे हैं। फिर सोच रहे हैं कि जब द्रौपदी मेरे पास आयेगी और उसने कहीं मुझसे भी पैर दबाने को कहा, तब क्या होगा? इन्हीं सब चिन्ताओं में भीम दुबले होने लगे। माता कुन्ती ने देखा कि भीम दुर्बल हो रहा है, किन्तु उन्हें उसकी दुर्बलता का कोई कारण समझ में नहीं आया। एक दिन कुन्ती

ने कृष्ण को बुलाकर कहा—बेटा कृष्ण, तुम्हीं पता लगाओ कि भीमसेन दिनो-दिन दुर्बल क्यों होता जा रहा है ? कृष्ण ने भीम को एकान्त में बुलाकर उसकी चिन्ता का कारण पूछा। भीमसेन ने कृष्ण को सारी बातें बता दी। भगवान कृष्ण ने कहा—अच्छा, तुम्हारी समस्या का समाधान हो जाएगा। नगर के बाहर अश्वत्थ का एक वृक्ष है। तुम रात में जाकर उस वृक्ष पर चढ़कर बैठ जाना तथा वहाँ रात में जो कुछ हो वह सब देखना और फिर मुझे बताना। भीम रात में उस वृक्ष पर चढ़कर बैठ गये। थोड़ी देर बाद उन्होंने देखा कि एक व्यक्ति आया और उसने पेड़ के नीचे का स्थान साफ कर दिया, प्रकाश की व्यवस्था की और आसन बिछा दिये। इतने में भीम ने देखा कि वहाँ ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र आदि बड़े बड़े देवता आ कर आसनों पर बैठ गये। किन्तु बीच में जो ऊँचा सिंहासन था, उस पर कोई नहीं बैठा। किसी की प्रतीक्षा थी। अचानक भीम ने देखा कि उनके चारों भाई भी वहाँ आकर अपनी अपनी जगह पर बैठ रहे हैं। अन्त में द्रौपदी आयीं। उनके आते ही सब लोग उठ कर खड़े हो गये। द्रौपदी के ऊँचे आसन पर बैठने के बाद ही सब लोगों ने अपने अपने आसन ग्रहण किये। भीम बड़े चकित हुए। अभी वे आश्चर्य में डूबे ही हुए थे कि द्रौपदी ने पूछा— क्या सब लोग आ गये ? उत्तर मिला—भीमसेन यहाँ नहीं दीख रहे हैं। द्रौपदी ने कहा—वह है कहाँ ? उसे पकड़कर ले आओ। देवर्षि नारद बोले— कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं है, भीमसेन इसी वृक्ष के ऊपर बैठे हैं। यह सुनकर भीमसेन घबरा गये। उनके हाथ से वृक्ष की डाल

छूट गयी और वे धड़ाम से जमीन पर आ गिरे। गिरते ही उन्होंने देखा कि वहाँ पर तो कुछ भी नहीं है—न देवगण, न भाईगण न द्रौपदी। भीम डर के मारे वहाँ से भागने लगे। तभी उन्होंने देखा कि भगवान श्रीकृष्ण सामने से उसी की ओर चले आ रहे हैं। आकर उन्होंने भीम से पूछा —भैया, कहाँ भागे जा रहे हो ? ठहरो। भीमसेन रुक गये तथा उन्होंने भगवान श्रीकृष्ण को सारी बातें बता दी। भगवान ने हँसकर कहा——अरे भाई, तुम मेरी माया देखना चाहते थे न ! यही है वह माया।

एक और कथा आती है देवर्षि नारद के सम्बन्ध में। एक बार भगवान नारायण तथा देवर्षि नारद कहीं जा रहे थे। नारद ने भगवान से कहा—आपकी माया के विषय में मैंने बहुत कुछ पढ़ा-सुना है, किन्तु अभी तक माया को मैंने देखा नहीं। अतः कृपाकर मुझे अपनी माया दिखा दीजिए। नारायण ने कहा—यह क्या देवर्षि ! तुम भी माया देखना चाहते हो ? नारद ने आग्रहपूर्वक कहा—हाँ भगवन्, मैं माया देखना चाहता हूँ। नारायण मुस्कराये और कहा—अच्छा तुम्हें माया दिख जाएगी। कुछ काल बाद भगवान पुनः एक दिन नारद के साथ घूमने को निकले। चलते चलते जब वे लोग काफी दूर निकल गये तब भगवान ने नारद से कहा—नारद मुझे प्यास लग रही है, क्या कहीं से पानी ला सकते हो ? नारद ने कहा—हाँ प्रभु, अभी लाया। यह कहकर नारद पास ही के एक गाँव में जल लाने गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने एक घर का द्वार खटखटाया। एक अत्यन्त सुन्दरी युवती ने द्वार खोला। उस सुन्दरी को देखते ही नारद मुग्ध हो

गये। उन्हें यह ध्यान ही न रहा कि वे भगवान के लिये जल लेने आये हैं। वे उस कन्या से बातें करने लगे। उससे प्रेम-निवेदन किया। फिर उन्होंने उसके पिता से कन्या का हाथ माँगा और दोनों का विवाह भी हो गया। नारद आनन्दपूर्वक रहने लगे। बारह वर्ष का समय बीत गया। इस बीच उनके चार बच्चे भी हो गये। एक दिन मूसलाधार वृष्टि प्रारम्भ हो गयी। पास ही नदी थी। उसमें बाढ़ आ गयी। नदी का पानी बढ़ने लगा। चारों ओर पानी ही पानी! सब कुछ डूबने लगा। फिर नारद के देखते ही देखते उनके दो बच्चे उस बाढ़ में बह गये। नारद चीख उठे। पत्नी तथा अन्य दो बच्चों को लेकर वे किसी प्रकार बाढ़ से बचने का प्रयत्न करने लगे। पानी का एक और तीव्र प्रहार आया। उसमें बाकी दोनों बच्चे भी बह गए। नारद चिल्ला उठे। फिर पत्नी को कसकर पकड़ लिया कि कहीं वह भी न बह जाय। नारद अभी सम्भल भी न पाये थे कि एक और प्रचण्ड लहर आयी और उनकी पत्नी भी हाथों से छूट कर बह चली। नारद आर्तनाद कर उठे। फिर एक दूसरी लहर ने नारद को नदी के तीर पर ला पटका। नदी के तट पर बैठकर नारद विलाप कर रहे हैं—हाय! हाय!! मेरी गृहस्थी उजड़ गई। मेरा सर्वनाश हो गया। तभी उनके कानों में आवाज आयी—नारद मुझे बड़ी प्यास लगी है। आधा घण्टा हो गया, अभी तक तुम जल लेकर नहीं आये। नारद को लगा यहाँ तो बारह वर्ष बीत गये और प्रभु कह रहे हैं—आधा घण्टा! तभी नारद की चेतना लौटी। उन्होंने देखा कि भगवान नारायण मुस्कराते हुए खड़े हैं। वे भगवान के चरणों में गिर पड़े तथा चरण पकड़ कर

बोले—प्रभु मेरी रक्षा कीजिए। अपनी इस भुवनमोहिनी माया से मुझे बचाइए। भगवान ने कहा—नारद मैंने तो पहले ही तुमसे कहा था कि भला क्यों इस माया को देखना चाहते हो?

तो ऐसी है यह माया! जहाँ कुछ भी न हो वहाँ सब कुछ दिखा देती है। नारद की तरह जो लोग भगवान की शरण में जाते हैं, उनके चरणों को पकड़ रखते हैं, वे ही माया से बच पाते हैं।

○

जिस पर भूत आता है, वह यदि जान जाए कि भूत आया है, तो भूत भाग जाता है। मायामुग्ध जीव यदि एक बार ठीक से जान ले कि वह माया द्वारा ग्रसित है, तो माया उसे शीघ्र ही छोड़ जाती है।

माया दो प्रकार की होती है—एक विद्या और दूसरी अविद्या; फिर विद्यारूपी माया भी दो प्रकार की होती है (१) विवेक, (२) वैराग्य। इस विद्यारूपी माया का अवलम्बन करके जीव भगवान की शरण में आता है। अविद्यारूपी माया छह प्रकार की होती है—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर। अविद्यारूपी माया 'मैं' और 'मेरा' के बोध द्वारा मनुष्य को बाँध रखती है। पर विद्यारूपी माया के प्रकाश से जीव की अविद्या एकदम नष्ट हो जाती है।

—श्रीरामकृष्ण

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद्चन्द्र पेंढारकर, एम.ए.

(१) स्तुति कह परम धरम उपकारा

श्रावस्ती नगर में बक्कलि नामक एक ब्राह्मण रहता था। एक दिन उसने भगवान बुद्ध की तेजस्वी और सौम्य छवि देखी, तो रोमांचित हो उठा। अंतत: मन न माना, तो बुद्धदेव के पास जाकर उसने भिक्षु-धर्म की दीक्षा ले ली। किन्तु भिक्षु बनने के बाद भी वह भिक्षु-धर्म का पालन नहीं कर पाता था। उसकी दृष्टि बराबर बुद्धदेव के मुखमण्डल पर ही रहती। बुद्धदेव से यह बात छिपी न रही। आखिर एक दिन उन्होंने उससे पूछ ही लिया, "बक्कलि, मैं देख रहा हूँ कि भिक्षु-धर्म का तुम पालन नहीं कर पा रहे हो। इसका क्या कारण है?"

बक्कलि ने जवाब दिया, "आप ठीक कहते हैं। बात यह है कि आपके मुखमण्डल की आभा से मैं बेहद प्रभावित हूँ। एकटक उसे निहारने में ही मैं तृप्त हो जाता हूँ। कुछ भी करने को जी नहीं चाहता।"

तब तथागत ने कहा, "मगर क्या तुम यह नहीं जानते कि मेरे चेहरे की आभा और सौन्दर्य क्षणभंगुर हैं। इसका विनाश अवश्यम्भावी है, इस कारण इस पर अपना ध्यान केन्द्रित कर तुम जीवन के वास्तविक उद्देश्य को बिसार रहे हो। मेरे इस चेहरे से कहीं अधिक लावण्यमय और दिव्य रूप है, धर्म का। उसे अगर तुम देखो, तो कोई भी लावण्य तुम्हारी आँखों से अछूता नहीं रह जायेगा और तब तुम जीवन-मर्म को भी समझ सकोगे। अपने मन में तुम यह गाँठ बाँध लो कि धर्म से बढ़कर आह्लाद-दायक और कल्याणकारी रूप इस संसार में अन्य किसी भी चीज को प्राप्त नहीं है।"

(२) शुभेन कर्मणा सौख्यं

प्रभु ईसा के एक शिष्य ने एक बार उनके खिलाफ झूठी गवाही दी । इससे अन्य शिष्य नाराज हो गये और एक शिष्य ने ईसा से कहा , "इस शिष्य का इतना पतन कैसे हुआ कि असत्य बोलने में उसे जरा भी हिचक न हुई । उसे तो इसका दण्ड अवश्य मिलना चाहिए ।"

प्रभु ने उस शिष्य से कहा, "कोई कुछ भी कहे, हमें इसका ख्याल नहीं करना चाहिए । उसके प्रति दुर्भावना रखना भी उचित नहीं । बल्कि यदि वह कोई गलत काम करता है, तो हमें प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए कि वह उसे माफ करे । जहाँ तक असत्य बोलने की बात है, तो कब क्या घटित होगा, कब कौन क्या करेगा, यह कोई नहीं जानता । अब तेरे बारे में यह कहूँ कि मुर्गा बाँग देने से पहले तू भी झूठ बोलेगा, तो तुझे इस पर यकीन नहीं होगा ।"

इतने में सिपाही आये और ईसा को पकड़कर ले जाने लगे । इससे शिष्यों में हड़बड़ी मच गई और वे छिपने के लिए स्थान ढूंढने लगे । वह शिष्य भी एक स्थान पर छिप रहा था कि एक सिपाही ने उसे देख लिया और पूछा, "कौन है तू ? ईसा का साथी तो नहीं है न ?" अपनी जान बचाने के इरादे से उस शिष्य ने जवाब दिया कि ईसा को तो वह जानता ही नहीं । इतने में एक मुर्गे ने बाँग दिया और उस शिष्य को ईसा के शब्दों का स्मरण हो आया और वह सोचने लगा कि सचमुच में कितना पापी हूँ कि मैंने अपनी जान बचाने के लिए झूठ का सहारा लिया । जबकि थोड़ी ही देर पहले अपने एक साथी द्वारा झूठ बोलने पर मैंने उसकी निन्दा की थी । इसका यही अर्थ हुआ कि हमें दूसरों की गलती तो तुरन्त दिखाई देती

है, लेकिन वही स्थिति हम पर आ जाए तो हमें उसे दुहराने में जरा भी हिचक नहीं होती।

(३) देनहार कोई और है

एक बार सन्त तुलसीदासजी के पास एक निर्धन व्यक्ति आया और उसने अपनी कन्या के विवाह के लिए कुछ मदद करने की विनती की। तुलसीदासजी ने कहा, "मैं तो ठहरा पक्का साधु ! भला तेरी क्या मदद कर सकता हूँ मैं ? हाँ, मेरा एक मित्र है—अब्दुर्रहीम खानखाना, जो बादशाह के दरबार में ऊँचे पद पर है, और बड़ा ही दानी पुरुष है। मगर दानी लोगों से सीधे माँगना उचित नहीं है, इसलिए तेरे लिए सांकेतिक रूप से माँगकर देखूंगा।" और उन्होंने एक कागज के टुकड़े पर निम्न पंक्ति लिखी—'सुरतिय नरतिय नागतिय, यह चाहत सब कोय।'

ब्राह्मण जब वह कागज़ लेकर खानखाना के पास गया, तो उसने लिखित पंक्ति का आशय समझकर पूछा, "कितना धन चाहिए !" ब्राह्मण ने कन्या के विवाह का प्रयोजन बताया। तब उन्होंने कहा, "विवाह से पहले मुझे सूचित कर देना। मैं आकर सारी व्यवस्था कर दूंगा।" कुछ समयोपरान्त ब्राह्मण से सूचना मिलने पर उन्होंने सचमुच विवाह का सारा खर्च वहन किया। लेकिन जाते समय वही कागज का टुकड़ा ब्राह्मण को देते हुए कहा, "इसमें मैंने तुलसीदासजी को जवाब दे दिया है। उन्हें यह दिखा देना।" ब्राह्मण ने पढ़ा तो उसमें यह लिखा पाया—"गोद लिये हुलसी फिरै, तुलसीदास सुत होय।"

तुलसीदासजी ने जब यह पंक्ति पढ़ी, तो ब्राह्मण से पूछा "उन्होंने तेरी आर्थिक रूप से मदद की थी न ? मगर

तुझमे कोई खास बात भी तो कही होगी ?" ब्राह्मण ने जवाब दिया, "मदद तो खूब की, लेकिन कहा कुछ नहीं। हाँ, वे पहले अपना हाथ ऊपर उठाते थे और फिर नीचे की ओर देखकर सब धन देते थे।" तुलसीदासजी ने सुना, तो कागज पर लिख दिया, "सीखी कहाँ खानानजू ऐसी देनी देन, ज्यों ज्यों कर ऊँचे करी, त्यों त्यों नीच नैन।" (खानखाना, आपने इस प्रकार से दान देना कहाँ सीखा ? क्योंकि देते समय जितना हाथ आप ऊपर उठाते थे, उतनी ही नजर नीचे करते थे।) और उन्होंने ब्राह्मण से वह कागज खानखाना को देने के लिए कहा।

खानखाना ने जब यह दोहा पढ़ा, तो उन्होंने निम्न दोहा उसके नीचे जोड़ दिया—"देनहार कोई और है, भेजत जो दिन रैन। लोग भरम मुझपे करें, याते नीचे नैन।।" (देने वाला तो कोई और अर्थात् जगत्पालक ईश्वर है, लेकिन लोगों को भ्रम है कि मैं देता हूँ। इससे मुझे ग्लानि होती है, इस कारण अपनी नजर नीची कर लेता हूँ।) तुलसीदासजी ने पढ़ा, तो वे गद्‌गद् हो गये।

(४) दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी

एक बार मुल्ला इस्माईल इसफ़हानी नमाज पढ़ रहे थे कि एक दुष्ट व्यक्ति वहाँ से गुजरा और उसने उन्हें गालियाँ देनी शुरु की। किन्तु मुल्ला साहब उस ओर ध्यान न देकर नमाज पढ़ते रहे। बाद में नमाज खत्म होने पर उनके एक शिष्य मिर्ज़ा मुक़ीम ने उनसे पूछा, "हजरत यह दुष्ट आपको इतनी गालियाँ दे रहा है और आप उसे नज़रअंदाज कर रहे हैं। आपकी जगह कोई और होता, तो निश्चय ही वह इसे सजा देता।" इसपर मुल्ला इस्माइल बोले, "भाई यह व्यक्ति होठ हिला रहा है, उससे

इसके सामने की थोड़ी सी हवा भी हिल रही है। मगर क्या यह हवा हमारा कुछ बिगाड़ रही है? नहीं न, फिर क्यों हम अपने ध्यान को खुदा से खींचकर इस व्यक्ति की तरफ लगाएँ। इससे हमारे काम में ही हर्ज होगा।" मुल्ला ने आगे कहा, "जब कोई हमारी तारीफ करता है, तो हम मारे, खुशी के फूल उठते हैं, मगर यदि वही व्यक्ति हमें गालियाँ देने लगे, तो हम उसे कोसने लगेंगे। तब हम यह भूल जाएगे कि थोड़ी देर पहले यही व्यक्ति हमारी तारीफ कर रहा था। निन्दा-स्तुति की ओर ध्यान न देकर हमें तो चुपचाप अपने काम में ही लगे रहना चाहिए।"

(५) भावो हि कारणम्

एक बार सन्त डायोजिनिस के पास एक व्यक्ति आया और उसने कहा, "मैं किसी अच्छे व्यक्ति को गुरु बनाना चाहता हूँ, कृपया आप मेरा मार्गदर्शन करें।" डायोजिनिस ने उससे पूछा कि क्या वह धीरज का परिचय देगा? उसके हामी भरने पर उन्होंने कहा, "तू आम के पेड़ की एक शाखा तोड़कर सड़क के किनारे बैठ जा और आने-जाने वालों से पूछता जा कि वह शाखा किस पेड़ की है। यदि कोई आम की बताये तो तू कटहल की बताना। यदि कोई कटहल की बताये, तो तू अमरूद की बताना अर्थात् जिस पेड़ का नाम बताया जाए, तू उससे दूसरे पेड़ का नाम लेना। तेरे इस जवाब से जो भी तुझे निरुत्तर करे, बस जान लेना कि वही व्यक्ति तेरा गुरु बनने की योग्यता रखता है।"

वह व्यक्ति सन्त के बताये अनुसार सड़क के किनारे बैठ गया और वहाँ से गुजरने वालों को शाखा दिखाते हुए पेड़ का नाम पूछने लगा। लोगों द्वारा 'आम की'

बताने पर वह किसी दूसरे पेड़ को बताता। लोग इस जवाब को सुनकर उसे 'पागल' कहकर आगे बढ़ जाते।

कई दिन बीत गये, आखिरकार एक व्यक्ति इस जवाब को सुनकर बोला, "नाम-रूप तो सारी काल्पनिक बातें हैं। जब हम किसी चीज को नाम देते हैं, तो वह कल्पना के ही आधार पर देते हैं। इस शाखा को 'आम' कहें या 'कटहल,' 'नीम' कहें या 'अमरूद', इससे कोई फरक नहीं पड़ेगा। तू तो यह जानता ही है कि क्रमविकास के नियमानुसार आम भी कटहल का जीव हो सकता है। और यदि तू जानता है, तो तू जागृत अवस्था में है। इसी कारण तुझमें यह भाव उपजा होगा। तू जो कुछ भी बताता है, वह निश्चयपूर्वक बताता होगा और अगर निश्चयपूर्वक न बताता हो, तो इसका कोई प्रयोजन तो होगा ही। और तब मुझ सरीखा निष्प्रयोजन वाला व्यक्ति क्या कह सकता है? इसके बारे में कुछ कहना मुझ अज्ञानी के बस की बात नहीं है।"

यह तत्वज्ञान सुनते ही उस व्यक्ति ने जान लिया कि यह कोई पहुँचा हुआ महात्मा है। उसने उनके चरण पकड़े और उन्हीं से मन्त्र-दीक्षा ली।

●

ध्यान ही सत्य के द्वार को खोलने की चाभी है। वाणी के द्वारा नहीं, अध्ययन के द्वारा नहीं, अपितु एकमात्र ध्यान के द्वारा ही सत्य की अनुभूति होती है। ध्यान की सहायता से आत्मज्ञान की उपलब्धि होती है। ध्यान के द्वारा माया का जाल छिन्न-भिन्न हो जाता है।

—स्वामी तुरीयानन्द

सुभाषचन्द्र बोस के प्रेरणा-पुरुष : श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द (४)

स्वामी विदेहात्मानन्द

१६ जुलाई १९२१ ई. को २३ वर्ष के युवा सुभाष ने पुनः अपनी मातृभूमि की धरती पर पैर रखा। वे पहले से ही बंगाल के सुप्रसिद्ध नेता देशबन्धु चिरंजनदास के साथ पत्र-व्यवहार कर चुके थे और अब उन्होंने महात्मा गाँधी से भी भेंट की। धीरे-धीरे उनके मनश्चक्षु के समक्ष उनका भावी कार्यक्रम स्पष्ट हो गया। देशबन्धु ने स्व-स्थापित एक विद्यालय में उन्हें शिक्षक का कार्य दे दिया इसके अतिरिक्त उन्होंने पत्रकारिता भी की और एक युवा स्वयंसेवक दल के संगठन में लग गये। उन्हीं दिनों भारत में 'प्रिंस आफ वेल्स' का आगमन हुआ। कांग्रेस ने इस यात्रा का पूर्ण बहिष्कार करने का प्रस्ताव पास किया। देशबन्धु और सुभाष ने भी अपने स्वयंसेवक दल के साथ इस यात्रा का विरोध किया। दोनों ही नेता गिरफ्तार कर लिए गये। सुभाष को छह महीने की सजा मिली और इस प्रकार उनके जीवन का प्रथम कारावास प्रारम्भ हुआ।

जेल से छूटने के बाद देशबन्धु ने कांग्रेस के एक अंग के रूप में ही एक 'स्वराज्य पार्टी' के गठन की योजना बनायी और उसी के माध्यम से १९२३ ई. के कलकत्ता महापालिका का चुनाव लड़ने का निश्चय किया। १९२४ के अप्रैल में देशबन्धु महापालिका के मेयर और सुभाष प्रमुख अधिकारी (Chief Executive Officer) के रूप में चुनकर आ गये। उनके कार्य की सफलता और लोकप्रियता ब्रिटिश सरकार को सहन नहीं हुई। ६ महीने बाद ही लार्ड लिटन ने 'बंगाल आर्डिनेन्स एक्ट' जारी किया जिसके तहत सैकड़ों क्रान्तिकारी पकड़े गये। सुभाषबाबू

को भी बिना किसी आरोप के गिरफ्तार कर लिया गया। कुछ दिनों तक वे बहरमपुर जेल से ही कलकत्ता महापालिका का कार्य सम्पादित करते रहे। तत्पश्चात् उन्हें बर्मा के माण्डले जेल में स्थानान्तरित कर दिया गया। १९२५ ई. के जून में उनके राजनीतिक गुरु देशबन्धु चित्तरंजनदास का देहावसान हो गया। १९२७ ई. में उन्हें कारागार से मुक्त किया गया। प्रायः तीन वर्ष के कारावास के दौरान उनके द्वारा लिखे कुछ पत्रों में स्वामी विवेकानन्द तथा उनकी विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है।

९ अक्टूबर १९२५ को उन्होंने दिलीपकुमार राय के नाम अपने पत्र में लिखा—"तुमने श्रीअरविन्द के बारे में जो कुछ लिखा है, उसे पूर्णतः तो नहीं परन्तु उसके अधिकांश को मैं मानता हूँ। वे ध्यानी हैं और मेरे विचार मे तो वे विवेकानन्द से भी अधिक गम्भीर हैं। फिर भी विवेकानन्द के प्रति मेरी अपार श्रद्धा है।...अनेक कारणों से हमारी जाति अकर्मण्य हो गई है। अतः अब हमें रजोगुण की आवश्यकता है।"[1] १९२६ ई. में उन्होंने दक्षिण कलकत्ता सेवक समिति के एक कार्यकर्ता हरिचरण बागची को लिखा था—"भय पर विजय प्राप्त करने का उपाय है शक्ति, विशेष रूप से दुर्गा, काली, आदिशक्ति की साधना करना।... हमारे भीतर अनन्त शक्ति निहित है। उस शक्ति का बोध करना पड़ेगा। पूजा का अर्थ है मन में शक्ति का बोध करना।... साधना का लक्ष्य है एक ओर तो वासनाओं का नाश करना और दूसरी ओर सद्वृत्तियों का विकास करना।... प्रतिदिन दोनों समय इस प्रकार का

१. 'नेताजी', पृ. १४५

ध्यान करना चाहिए। कुछ दिन ध्यान करने से शनैः शनैः शक्ति प्राप्त होगी, हृदय में शान्ति भी अनुभव करोगे।" ये सब मानो स्वामीजी की उक्तियों की ही प्रतिध्वनियाँ हैं। उसी पत्र में आगे है—"इस समय स्वामी विवेकानन्द की पुस्तकें पढ़ सकते हो। उनकी पुस्तकों में 'पत्रावली' और उनके भाषण विशेष रूप से शिक्षाप्रद हैं। 'भारत में विवेकानन्द' पुस्तक में सम्भवतः यह सब मिल जाएगा। सम्भवतः पृथक् पुस्तकें भी मिलती हों। पत्रावली और भाषण न पढ़कर अन्य पुस्तकें पढ़ना ठीक नहीं है। धर्म का दर्शन, ज्ञानयोग या इसी प्रकार की पुस्तकों को पहले मत पढ़ना, बाद में पढ़ना। साथ में 'रामकृष्ण कथामृत' पढ़ सकते हो।"[2]

फिर मई १९२६ में उन्होंने 'दक्षिण कलकत्ता राष्ट्रीय विद्यालय' के प्रधानाचार्य भूपेन्द्रनाथ बन्धोपाध्याय को लिखा था—"आज बंगाल के बहुत से देशसेवकों में व्यवसायी और पटवारी बुद्धि आ गयी है। वे अब कहने लगे हैं कि 'मुझे अधिकार दो—कर्मचारियों का पद दो—कम से कम कार्यकारिणी का सदस्य बना दो—वरना मैं काम नहीं करता।' मैं जानना चाहता हूँ—नर-नारायणों की सेवा व्यापाराना ढंग में, 'काण्टैक्ट' में कब, कैसे बदली? मैं तो सेवा का आदर्श यही जानता रहा—

'दाओ दाओ, फिरे नाहि चाओ,
थाके यदि हृदये सम्बल।[3]

२. वही, पृ. १७१-७२
३. स्वामी विवेकानन्द की कविता का अंश जिसका भावार्थ है—'देते रहो, देते रहो, पर बदले में कुछ मत चाहो, तुम्हारा धन तुम्हारे हृदय में है।'

जो बंगाली इतनी जल्दी देशबन्धु के त्याग को भूल सका—वह अतीतगत स्वामी विवेकानन्द की 'वीरों की वाणी' को भूला नहीं है इसे कैसे सत्य माना जाय?" इसी पत्र में आगे वे लिखते हैं—"मैं जब प्रत्येक महीने दो सौ रुपया सेवाश्रम के लिए व्यय करता था उस समय बहुत से मित्रों ने कहा था कि मैं व्यर्थ छह-सात बालकों पर इतना व्यय कर रहा हूँ।...परन्तु वे नहीं जानते कि मैंने भावुकता में आकर सेवाश्रम के काम में हाथ नहीं डाला था। आज प्रायः बारह-चौदह वर्षों से जो गहरी पीड़ा ज्वर में लगी आग की भाँति मुझे विदग्ध करती रही है, उसे शान्त करने के लिए इस काम में हाथ डाला था। मैं कांग्रेस का काम छोड़ सकता हूँ, परन्तु सेवाश्रम का काम छोड़ना मेरे लिए सम्भव नहीं है। 'दरिद्रनारायणों' की सेवा का ऐसा उत्तम सुयोग मुझे कहाँ मिलेगा?"[४] इस पत्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वामीजी द्वारा प्रचारित 'दरिद्रनारायण' सेवा का भाव किस प्रकार सुभाष की अस्थि-मज्जा में प्रविष्ट हो गया था।

माण्डले जेल से ही एक अन्य पत्र में वे लिखते हैं—"'स्वराज्य जनसाधारण के लिए' यह उद्घोष दुनिया में नया नहीं है। यूरोप ने बहुत दिनों पूर्व ही इस महामंत्र का प्रचार किया था, लेकिन भारत के राजनैतिक क्षेत्र में यह बात नयी जरूर है। अवश्य स्वामी विवेकानन्द अपनी 'वर्तमान भारत' पुस्तक में लगभग ३० वर्ष पूर्व ही लिख गये हैं, किन्तु स्वामीजी की भविष्यवाणी की प्रति-ध्वनि राजनैतिक मंच से सुनाई नहीं पड़ी।" इसी पत्र में

४. तरुणाई के सपने, सुभाषचन्द्र बोस, भारतीय ज्ञानपीठ, सं. १९७१, पृ. ५६

वे स्वामीजी की शिष्या भगिनी निवेदिता का मत उद्धृत करते हुए लिखते हैं—"... जो समाज पुरुष की अपेक्षा नारी-प्रधान है वहाँ लोग भगवान की मातृरूप में कल्पना करते हैं। जो भी हो, बंगाली केवल भगवान् की ही नहीं, बंगाल और भारतवर्ष की भी मातृरूप में कल्पना करना श्रेयस्कर मानता है—यह सर्वजनविदित है।"[५]

जेल में सुभाष का स्वास्थ्य बिगड़ता जा रहा था, अतः सरकार ने १६ मई १९२७ को उन्हें रिहा कर दिया। परन्तु गिरे स्वास्थ्य के बावजूद वे पुनः राजनीतिक जीवन में सक्रिय हो गये। अब वे अपना सारा समय युवकों के संगठन तथा ट्रेड यूनियन आन्दोलन के विकास में लगाने लगे। उनके अथक प्रयासों के फलस्वरूप कांग्रेस को खेतिहर और औद्योगिक मजदूरों का आधार प्राप्त हुआ। इन्हीं दिनों प्रान्तीय कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने पूरे भारत के अनेक स्थानों का दौरा किया तथा अनेक सभाओं को सम्बोधित किया, उनके इस काल के प्रकाशित व्याख्यानों में सर्वत्र स्वामीजी के विचारों की छाप दृष्टि-गोचर होती है और यत्र-तत्र रामकृष्ण-विवेकानन्द का उल्लेख भी मिलता है। अब हम उनके कुछ व्याख्यानों से कालक्रमानुसार ऐसे उद्धरण प्रस्तुत करेंगे—

१९२८ ई के ३ मई को पूना में प्रदत्त व्याख्यान में उन्होंने कहा था—"स्वाधीनता मेरे लिए एक अन्तिम लक्ष्य है, एक असीम अमूल्य सम्पदा है। मनुष्य के फेफड़ों के लिए जैसे ओषजन अपरिहार्य है, उसी प्रकार मनुष्य की आत्मा के लिए स्वाधीनता अपरिहार्य है। स्वामी विवेका-

५. वही, पृ. ९०

नन्द ने सत्य ही कहा है : 'स्वाधीनता आत्मा का संगीत है।"

उसी वर्ष १८ जून को कलकत्ते के अल्बर्ट हाल में अखिल बंग युवक समिति द्वारा आयोजित सभा में उन्होंने कहा—"एक के साथ बहुत्व का समन्वय—यह बंगाल का वैशिष्ट्य है। इस वास्तविक सत्य को अस्वीकार करने से काम नहीं चलेगा। परमहंस रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द इसी सत्य की अभिव्यक्ति कर गये हैं। स्वामीजी ने कहा है कि मनुष्य कभी असत्य से सत्य की ओर अग्रसर नहीं होता—वह उच्च सत्य से उच्चतर सत्य तक पहुंचता है। सत्य के किसी भी स्तर को वह अस्वीकार नहीं करता। जैसे एक सत्य है वैसे ही बहुत्व भी सत्य है। एक के साथ बहुत्व का मिलाप—यही साधक की साधना है।"[७]

फिर १६ जुलाई को उसी स्थान पर छात्र संगठन समिति द्वारा आयोजित सभा में उन्होंने कहा—"हमारे देश में अंग्रेजों के आगमनकाल में हमारी प्राचीन पद्धति के विरुद्ध एक प्रबल विद्रोह की घोषणा हुई। देश में प्रचलित धर्म और समाज-व्यवस्था में एक परिवर्तन आया। तदुपरान्त परमहंस रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द ने धर्म ी नवीन व्याख्या प्रारम्भ की। इसके फलस्वरूप समन्वय साधित हुआ।"[८]

फिर २२ जुलाई को पूर्ण थियेटर के हाल में उन्होंने 'यौवन-व्रत' विषयक व्याख्यान में कहा—"यौवन का व्रत

६. सुभाष रचनावली (बंगला), जयश्री प्रकाशन, भाग-१, पृ. १४४
७. वही, पृ. २०५
८. वही, पृ. २२४

क्या है ? निश्चय ही यह व्रत है—स्वाधीनता की स्पृहा को जगाना। इस नवीन आदर्श की उपासना ही युवा-आन्दोलन का उद्देश्य है और हमें उसी आदर्श को अपनाना होगा। स्वामी विवेकानन्द कह गये हैं, 'मनुष्य गढना मेरा व्रत है।' जब वास्तविक मनुष्यों का एक दल तैयार हो जाएगा तो स्वामीजी का मिशन और लक्ष्य रूपायित हो जाएगा।"[१]

आगामी वर्ष १९२९ ई., ९ फरवरी को पाबना जिला युवा-सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए उन्होंने कहा था—"बहुतों की धारणा है कि जनसाधारण को या तरुण समाज को जगाने के लिए राष्ट्र या समाज सम्बन्धी मतवादों का प्रचार अनिवार्य है।... प्रत्येक 'इज्म' के कट्टर भक्तों का मत है कि उनके मतवाद की स्थापना हो जाने पर जगत् के सारे दुःख दूर हो जाएँगे।... परन्तु मुझे तो ऐसा लगता है कि कोई भी मतवाद हमारा तब तक उद्धार नहीं कर सकता, जब तक कि हम स्वयं ही मनुष्योचित चरित्रबल प्राप्त न कर लें। इसीलिए स्वामी विवेकानन्द कहते थे, 'Man - making is my misson'—मनुष्य निर्माण करना ही मेरे जीवन का उद्देश्य है। राष्ट्रगठन और 'इज्म' की स्थापना की नींव हैं—सच्चे मनुष्य। सच्चे मनुष्य तैयार करना ही इस युवा आन्दोलन का प्रमुख उद्देश्य है।" इसी व्याख्यान का उपसंहार करते हुए उन्होंने साधना के स्वरूप के बारे में स्वामीजी का मत बताते हुए उनकी एक कविता की चार पंक्तियाँ उद्धृत की थी जिसका भावार्थ है—'अपार संग्राम ही माँ-काली की

---

१. वही, पृ. २३५

पूजा है, सदा पराजय हो तो भी भीत न होना; हृदय श्मशान बन जाय और उस पर श्यामा नृत्य करती रहें।"

१६ मार्च को प्रदत्त 'प्राच्य और पाश्चात्य का समन्वय' शीर्षक व्याख्यान में भी स्वामीजी का भाव है। उन्होंने कहा था—"हम लोग जो अभी बचे हुए हैं, मरे नहीं हैं, इसका कारण है कि हमारा एक मिशन (जीवनोद्देश्य) है। अतीत के चिन्तन में डूबे रहना ही इस मिशन का तात्पर्य नहीं है। प्राच्य और पाश्चात्य का समन्वय करने की क्षमता हममें है; स्वामीजी यही उपदेश दे गये हैं। विविध प्रकार से बन्दी होने के बावजूद अब भी हम जगत् को अनेक नवीन चीजों का दान कर रहे हैं।...हमारे अतीत की अपेक्षा भविष्य उज्ज्वलतर होगा। इसी दान के योग्य बनना ही तरुणाई की साधना है।"[११]

तदुपरान्त ३० मार्च १९२९ को रंगपुर में आयोजित बंगीय प्रादेशिक सम्मेलन का सभापतित्व करते हुए उन्होंने आधुनिक भारत के इतिहास में श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के अवदान का बड़ा ही सुन्दर मूल्यांकन किया था। अपने इस भाषण के दौरान उन्होंने कहा था—"राममोहन ने वेदान्त-प्रचार में जिस समन्वय का सूत्रपात किया था, हम देखते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में वह रामकृष्ण-विवेकानन्द में पूर्णरूपेण प्रस्फुटित हो उठा था। रामकृष्ण परमहंस अपने जीवन की अपूर्व और अलौकिक साधना के बल पर विभिन्न साधन पद्धतियों (यथा—कर्म, भक्ति, ज्ञान) के बीच, विभिन्न सम्प्रदायों (यथा—शाक्त,

१०. वही, द्वितीय खण्ड, पृ. ३१, ३५

११. वही, पृ. ५९

वैष्णव, योग, शैव आदि) के बीच और विभिन्न धर्मों (यथा—ईसाई धर्म, इसलाम, हिन्दूधर्म आदि) के बीच समन्वय स्थापित कर गये। परमहंसदेव की अनुभूति औ साधना के उत्तराधिकारी सर्वप्रथम स्वामी विवेकानन्द और तत्पश्चात् समग्र बंगवासी हुए। इस समन्वय स्थापना के साथ ही साथ जीवन के विभिन्न पक्षों में—काव्य साहित्य, दर्शन, विज्ञान, वाणिज्य, क्रीड़ा और व्यायाम के क्षेत्रों में सर्जनात्मक नवीन प्रयास चल रहे हैं। इसके अतिरिक्त समाज में पूर्ण साम्य की स्थापना का भी प्रयास चल रहा है...।

"परमहंसदेव द्वारा आरब्ध और अपूर्ण कार्य को स्वामी विवेकानन्द ने अपने हाथों में लिया। युगानुयुग से संचित भारत की ज्ञानसम्पदा को देश-विदेश में वितरित करने के लिए वे प्राचीन बौद्ध संन्यासियों की भाँति हाथ में ज्ञान का प्रदीप लिये सागर पार चले। इतने दिनों बाद भारतवासी घर छोड़कर बाहर जाने को पागल हुए; विश्व को प्रदान करने योग्य सामग्री उसने अपने घर में ही ढूँढ़ निकाली, तत्पश्चात् रवीन्द्रनाथ, जगदीशचन्द्र, प्रफुल्लचन्द्र, रामानुजन, रामन आदि भारत के श्रेष्ठ कवि, साहित्यकार, वैज्ञानिक और मनीषियों ने विश्व-सभ्यता को कितने ही प्रकार से परिपुष्ट किया है। इन सब महापुरुषों के आजीवन साधना के फलस्वरूप भारत-वासी आज समझ सके हैं कि उनका भी एक आदर्श है। जीवित रहने का एक उद्देश्य है—पृथ्वी पर राष्ट्र के रूप में एक मिशन है।

"अपने देश में नवीन राष्ट्र के निर्माण का कार्य भी विवेकानन्द आरम्भ कर गये थे। व्यक्तियों के समष्टि

को राष्ट्र कहते हैं। सच्चे मनुष्यों का निर्माण हुए बिना स्वाधीन और बलवान राष्ट्र का जन्म नहीं हो सकता। इसीलिए उन्होंने कहा, "Man-making is my mission'— सच्चे मनुष्य का निर्माण करना ही मेरा जीवनोद्देश्य है। तत्पश्चात् सच्चे मनुष्य निर्माण करने के लिए उन्होंने किसी वर्ग विशेष की ओर अपनी दृष्टि केन्द्रित न करके समग्र समाज की ओर ध्यान दिया। उनकी वह वाणी अमर होकर अब भी घर-घर में गूंज रही है—'तुम ऊँची जातवाले क्या जीवित हो?... तुम लोग शून्य में विलीन हो जाओ और फिर एक नवीन भारत निकल पड़े। निकले हल पकड़कर, किसानों की कुटी भेदकर, मछुए, माली, मोची, मेहतरों की झोपड़ी से। निकल पड़े बनियों की दुकानों से, भुजवा के भाड़ के पास से, कारखाने से, हाट से, बाजार से।... इन लोगों ने सहस्र-सहस्र वर्षों तक नीरव अत्याचार सहन किया है—उससे पायी है अपूर्व सहिष्णुता।... अतीत के कंकाल-समूह!—यही है तुम्हारे सामने तुम्हारा उत्तराधिकारी भावी भारत।"

"यही तो...समाजवाद है। इस समाजवाद का जन्म कार्ल मार्क्स की पोथी से नहीं हुआ है; इसका जन्म भारत की शिक्षा-दीक्षा और अनुभूति से हुआ है।"[१२]

तदुपरान्त २१ जुलाई १९२९ ई. को सुभाषबाबू ने हुगली-जिला-छात्र-सम्मेलन के सभापति के रूप में भाषण देते हुए मानो संस्मरणात्मक मनोभाव से कहा था— "पन्द्रह वर्ष पूर्व जो आदर्श बंगाल के (वस्तुत: पूरे भारत के) छात्र-समाज को अनुप्राणित करता था, वह था स्वामी विवेकानन्द का आदर्श। उस आदर्श के प्रभाव से बंगाली

१२. वही, पृ. ८८-८९

षड्रिपुओं पर विजय प्राप्त करने तथा स्वार्थपरता और अन्य प्रकार की क्षुद्रताओं से छुटकारा पाने के लिए, आध्यात्मिक शक्ति के बल पर शुद्ध-प्रबुद्ध जीवन-प्राप्ति के लिए कटिबद्ध थे। समाज और राष्ट्र के निर्माण का मूलमन्त्र है व्यक्तित्व का विकास। इसलिए स्वामी विवेकानन्द हमेशा कहते थे, 'मैन मेकिंग इज माई मिशन' —सही आदमी का निर्माण ही मेरे जीवन का उद्देश्य है। पर व्यक्तित्व-विकास पर इतना जोर देते हुए स्वामी विवेकानन्द राष्ट्र को बिल्कुल भूले नहीं थे। कर्मरहित संन्यास अथवा पुरुषार्थहीन भाग्यवाद पर उनकी आस्था नहीं थी। रामकृष्ण परमहंस ने अपनी साधना के द्वारा जो सर्वधर्म-समन्वय कर दिखाया था, वही स्वामीजी के जीवन का मूलमन्त्र बना और वही भविष्य के भारत के मूलमन्त्र का भी आधार हुआ। इस सर्वधर्म-समन्वय और सभी मतों में सहिष्णुता के बिना हमारे विविधतापूर्ण इस देश में राष्ट्रीय सौध स्थापित नहीं हो सकता।...

"राममोहन राय के युग से विभिन्न आन्दोलनों के जरिये भारत की मुक्तिकामना धीरे-धीरे प्रकट हुई।... उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में स्वाधीनता के अखण्ड रूप का आभास रामकृष्ण विवेकानन्द के मध्य से झलकता है। 'फ्रीडम, फ्रीडम इज़ दी सांग आफ दी सोल'—स्वाधीनता हमारी आत्मा का संगीत है। यह सन्देश जब स्वामीजी के हृदय से निकला तब उन्होंने समग्र देशवासियों को मुग्ध और उन्मत्त कर दिया। उनकी साधना के द्वारा, आचरण के द्वारा, वचनों और भाषणों के द्वारा यह सत्य प्रकट हुआ।

"स्वामी विवेकानन्द ने मनुष्य को तरह-तरह के बन्धनों से मुक्त होकर सही मनुष्य बनने को कहा और दूसरी तरफ सर्वधर्म-समन्वय प्रचार के जरिये भारतीय राष्ट्रीयता की आधारशिला स्थापित की। राममोहन राय ने सोचा था कि साकारवाद का खण्डन और वेदान्त के निराकारवाद की स्थापना के द्वारा वे राष्ट्र को एक सार्वभौमिक नींव पर खड़ा कर सकेंगे। ब्राह्मसमाज भी उसी पथ पर अग्रसर हुआ था, परन्तु इसके फलस्वरूप हिन्दू समाज मानो और भी दूर चला गया। तत्पश्चात् विशिष्टाद्वैत अथवा द्वैताद्वैतमूलक सत्यों का प्रचार करके और सर्वमत सहिष्णुता की शिक्षा देकर रामकृष्ण और विवेकानन्द ने राष्ट्र को एक सूत्र में ग्रथित करने का प्रयास किया।"[13] (क्रमशः)

●

विश्वास ही भीतर की दैवी-शक्ति को जाग्रत कर देता है। विश्वास कहता है कि मनुष्य जो चाहे कर सकता है। पहले आत्मशक्ति में विश्वास करो, तत्पश्चात भगवान में विश्वास करना।

—स्वामी विवेकानन्द

---

१३. वही, पृ. १६७-६८ (कुछ अंशों का अनुवाद 'तरुणाई के सपने' पृ. ११४-१५ से)

क्या वैज्ञानिक प्रवृत्ति सम्पन्न होते हुए आध्यात्मिक होना सम्भव है ? (५)

स्वामी बुधानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक रामकृष्ण मठ-मिशन के विशिष्ट संन्यासियों में थे। वे अपने सेवा-काल में अद्वैत आश्रम, मायावती के अध्यक्ष रह चुके थे और अन्त में रामकृष्ण मिशन, नई दिल्ली के प्रमुख थे। उन्होंने बहुत सी पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें 'मन और उसका निग्रह' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। प्रस्तुत लेखमाला उनकी एक दूसरी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'Can one be Scientific and yet Spiritual?' का हिन्दी रूपान्तर है। रूपान्तरकार स्वामी ब्रह्मेशानन्द, सम्प्रति रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी में कार्यरत हैं। —स.)

१२. श्रीरामकृष्ण के ईश्वर-विषयक प्रयोगों के निष्कर्ष

आइए, अब वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार किये गये ईश्वर-विषयक प्रयोगों के कुछ अत्यन्त रोचक एवं ज्ञान-वर्धक धार्मिक निष्कर्षों का अवलोकन करें।

श्रीरामकृष्ण का जीवन[1] भगवत्-स्वरूप के अन्वेषण की एक लम्बी गाथा है। इसमें उन्होंने सर्वदा परीक्षण एवं प्रयोग की वैज्ञानिक पद्धति का ही अनुसरण किया। अतः उनका जीवन एक प्रबुद्ध वैज्ञानिक के लिये, जगत के आध्यात्मिक सत्यों के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। श्रीरामकृष्ण ईश्वर के बारे में श्रवण मात्र से सन्तुष्ट नहीं थे। ईश्वर में विश्वास करने

---

१. द्रष्टव्य (क) श्रीरामकृष्ण लीलामृत, रामकृष्ण मठ, नागपुर।
(ख) श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग; (तीन खंडों में), स्वामी सारदानन्द; रामकृष्ण मठ, नागपुर।
(ग) श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, (तीन खंडों में) श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, रामकृष्ण मठ, नागपुर।

का अर्थ, उनके लिये, ईश्वर का दर्शन करना था। अगर ईश्वर है तो उसका दर्शन करना चाहिए ; अतः श्रीरामकृष्ण ईश्वर को देखना चाहते थे और उन्होंने अपने समस्त जीवन, एवं जगत् को ईश्वर सम्बन्धी प्रयोगों की एक प्रयोगशाला में परिणत कर लिया था।

जिस प्रकार एक अन्तरिक्ष यात्री अन्तरिक्ष यान में यात्रा करने के लिये अपने शरीर व मन को प्रशिक्षित करता है, उसी प्रकार श्रीरामकृष्ण ने इस महान प्रयोगशाला में ईश्वर-विषयक सत्य का आविष्कार करने के एकमेव उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने को पूरी तरह प्रशिक्षित किया था।

भगवद्दर्शन की आशा से महीनों उन्होंने अपनी पलकें नहीं झपकायीं। उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व को आँखें मूँदकर स्वीकार नहीं कर लिया। किसी भी अन्य वैज्ञानिक की तरह उन्होंने पूर्वकाल के ईश्वरदृष्टा ऋषियों से प्राप्त जानकारी को अस्थायी तौर पर स्वीकार तो किया, लेकिन उनके सत्यापन के लिए उन्होंने अपनी प्रयोगशाला में अति कठोर परिश्रम भी किया। स्वामी विवेकानन्द द्वारा पूछे गये इस सीधे प्रश्न, "महाशय, क्या आपने ईश्वर को देखा है" के उत्तर में अपने दर्शन एवं अनुभवों के आधार पर ही वे दृढ़तापूर्वक कह सके थे : "हाँ, मैंने ईश्वर को देखा है।"

अपने साधना काल में श्रीरामकृष्ण ने पूर्णतः प्रयोगात्मक प्रणाली को अपनाया था। जिस प्रतिमा की वे पूजा कर रहे थे वह क्या है ? क्या वह काले प्रस्तर की एक सुन्दर प्रतिमा मात्र है ? अथवा क्या जगन्माता जीवन्त एवं प्राणवान हैं ? असीम भगवत्-प्रेम के प्रतीक, अपनी उस

दिव्य धृष्टता के साथ श्रीरामकृष्ण ने यह जानने के लिए कि माँ जगदम्बा श्वास-प्रश्वास भी लेती हैं या नहीं, अपना हाथ उनकी नासिका के सामने किया और, यह लो, उन्होंने सांस लिया ! ! श्रीरामकृष्ण ने बताया था, "मैंने सचमुच उनके निःश्वास को अपने हाथों पर अनुभव किया ।"[२]

इसे आप वैज्ञानिक प्रणाली कहेंगे या नहीं ?

अगर आप किसी भी तरह मानने को तैयार न हों, तो आप कहेंगे, "नहीं, जब तक मैं स्वयं काली के श्वास-प्रवास का स्पर्श अपने हाथ पर न पा लूं, तब तक मैं इसे वैज्ञानिक प्रणाली नहीं मानूंगा । दूसरे शब्दों में, उसी प्रयोग की पुनरावृत्ति कर वही परिणाम प्राप्त करने पर ही मैं कहूँगा, 'हाँ यह ठीक है', उसके पहले नहीं । अतः प्रश्न यह है कि क्या काली के श्वास का अनुभव मेरे हाथ पर भी होगा ?

इसका उत्तर हम यह देंगे कि हाँ होगा, बशर्ते आप भी वे शर्तें पूरी करें जो श्रीरामकृष्ण ने की थीं । क्या आप तैयार हैं ? श्रीरामकृष्ण का माँ काली के प्रति इतना प्रेम था कि उनके दर्शन के अभाव में वे अपनी गर्दन तक काट लेने को तैयार थे । प्रेम की ऐसी तीव्रता अपने समग्र शरीर-मन में प्रवाहित कीजिए, उस एक ध्यान में जगत को पूरी तरह विस्मृत हो जाने दीजिए और तब काली की नासिका के सामने अपना हाथ रखिए । परिणाम वही होगा ! क्योंकि प्रयोग एक ही प्रकार का है ।

अब श्रीरामकृष्ण के आध्यात्मिक जगत के प्रति प्रयोगात्मक दृष्टिकोण की समीक्षा में अग्रसर होने के पूर्व,

२. श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, प्रथम खंड, तृतीय संस्करण, पृष्ठ २१८

हम वैज्ञानिक-विचारकों द्वारा धर्म को एक प्रयोगात्मक विज्ञान मानने के विरुद्ध प्राय: उठाये जाने वाले कुछ प्रश्नों पर विचार करना चाहेंगे। ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये शंकाएँ उन लोगों द्वारा उठायी जाती हैं जिन्हें वास्तविक आध्यात्मिक अनुभूतियों के विषय में कोई प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है। तो भी, चूंकि गहन आध्यात्मिक अनुभूतियाँ दुर्लभ हैं तथा उनका प्रचार नहीं किया जाता, और चूँकि शंकाएँ अनेक ईमानदार एवं निष्ठावान चिन्तकों की हैं, अत: यथासम्भव हम उनका समाधान करने का प्रयत्न करेंगे।

हम पहले ही आईन्स्टीन के विचार उद्धृत कर चुके हैं कि विज्ञान वस्तुनिष्ठ ज्ञान को अपना विषय बनाता है, जबकि धर्म लक्ष्य एवं हेतु निर्धारित करता है। यद्यपि यह एक महत्वपूर्ण एवं यथार्थ सिद्धान्त है तथापि यह एक खतरनाक द्वन्द्व भी पैदा कर सकता है : विज्ञान सत्य का अनुसन्धान करता है, साधुता का नहीं; धर्म सच्चरित्रता एवं उच्चतम मूल्यों का अनुधावन करता है, सत्य का नहीं। ऐसी संकीर्ण मान्यता धर्म को मानव जीवन में एक उचित एवं महत्वपूर्ण कर्तव्य प्रदान करते हुए भी उसके 'सत्य' अथवा 'ज्ञान' के दावे को छीन लेती है। इस मत के अनुसार सच्चा ज्ञान सामान्यत: वैज्ञानिक कहलाने वाली प्रक्रिया द्वारा प्राप्त ज्ञान ही है। भगवान का अस्तित्व है, ईश्वर जगत के प्राणियों पर कृपा करता है, इत्यादि धार्मिक दावे मानव की अन्तर्निहित साधुता एवं प्रेम की आकांक्षा को प्रकट करते हैं। साधुता एवं प्रेम मानव के सर्वाधिक सुन्दर पक्ष होते हुए भी किसी भी माने में ज्ञान नहीं कहे जा सकते। यह मत आज के उदारवादी वैज्ञानिकों में काफी प्रचलित है।

यह दृष्टिकोण धार्मिक व्यक्ति को न तो सन्तुष्ट करता है और न कर ही सकता है। मानव व्यक्तित्व के विभिन्न पक्ष एक दूसरे से विच्छिन्न होकर अलग-अलग कार्य नहीं करते। अल्पाधिक ज्ञान के बिना प्रेम नहीं हो सकता। हम भगवान को जाने बिना या कम से कम यह सोचे बिना कि हम उसे जानते हैं, भगवान से प्रेम नहीं कर सकते। हमें ईश्वर को चरम सत्य के रूप में ग्रहण करना होगा; अन्यथा, हम उसकी उपासना ही नहीं कर सकते।

१३. वैज्ञानिक एवं धार्मिक व्यक्ति का वार्तालाप : आपसी समझ के आधारों की खोज

अतः वास्तविक धर्म अपने ज्ञान होने का दावा करता है। आध्यात्मिक ऋषि का यह दावा है कि उसकी अनुभूतियाँ केवल अतिसुन्दर एवं विमोहक वैयक्तिक संवेदनाएँ मात्र नहीं हैं, बल्कि वे आध्यात्मिक जगत् का ज्ञान भी प्रदान करती हैं। यह दृष्टिकोण शंकालु वैज्ञानिक को अपने मूलभूत तात्त्विक प्रश्न पर पुनर्विचार करने को बाध्य करता है : 'अनुभूति क्या है? ज्ञान किसे कहते हैं? तथा अनुभूति से ज्ञान कैसे पैदा होता है?' वैज्ञानिक की ऐसी उलझनों एवं उसे दूर करने के सम्भावित उपायों को सन्देहवादी वैज्ञानिक एवं धार्मिक व्यक्ति के निम्नलिखित काल्पनिक वार्तालाप के माध्यम से समझा जा सकता है।

वैज्ञानिक—श्रीरामकृष्ण की आध्यात्मिक अनुभूतियों को ही लें। यह कैसे माना जा सकता है कि वे 'वस्तुनिष्ठ सत्य' ही प्रदान करती हैं? ऐसी भी सम्भावना है कि अपनी तपस्या के फलस्वरूप उन्होंने वस्तुनिष्ठ, पृथक् सत्तायुक्त वस्तुओं के बदले, उसी का दर्शन किया हो जो वे स्वयं देखना चाहते थे।

धार्मिक व्यक्ति—श्रीरामकृष्ण के समक्ष भी यही समस्या थी। कभी-कभी उन्हें संशय होता था कि उनके दर्शन कहीं दृष्टिभ्रम तो नहीं। कई बार उन्हें अपने निष्कर्षों पर ही शंका होने लगती थी। और वे अपनी अनुभूतियों की सत्यता एवं सार्थकता के सन्तोषप्रद प्रमाण पाये बिना शान्त नहीं हो पाते थे। कहीं आप मुझसे यह तो नहीं स्वीकार करवाना चाहते कि वैज्ञानिक पूर्वधारणा के बिना ही सत्यों का आविष्कार कर लेता है।

वैज्ञानिक—हाँ, यह कुछ बात हुई। इससे उनकी ईमानदारी के प्रति हमारा आदर बढ़ गया। लेकिन भले ही उनकी सत्यनिष्ठा उच्चतम रही हो, पर यह भी तो सम्भव है कि आध्यात्मिक पद्धति से कोई भी वस्तुनिष्ठ ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता !

धार्मिक व्यक्ति—अपनी इस शंका के समाधान के लिये आध्यात्मिक पद्धति का अनुसरण करके आप स्वयं ही क्यों नहीं देखते ?

वैज्ञानिक—लेकिन इसके पूर्व मैं यह आश्वासन चाहता हूँ कि आध्यात्मिक साधनाओं का अर्थ स्वयं को सम्मोहित कर अपनी इच्छानुसार जगत को देखना नहीं है।

धार्मिक व्यक्ति—ऐसा विश्वासयोग्य आश्वासन पहले से नहीं दिया जा सकता। तथापि धार्मिक अनुभूतियों की प्रमाणिकता के दो माप-दण्ड धर्माचार्यों द्वारा बताये गये हैं। प्रथम है, इन अनुभूतियों की एकरूपता। व्यक्ति विशेष के अनुभवों को उन पूर्वपुरुषों के आध्यात्मिक अनुभवों के अनुरूप होना चाहिए जिन्होंने उसी प्रकार की आध्यात्मिकता साधनाएँ की थीं।

यदि मैं पूर्व के ऋषियों की अनुभूतियों से भिन्न आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त करने का दावा करूँ तो मेरे भ्रमित होने की अधिक सम्भावना है ।

वैज्ञानिक—विशेषकर मुझ जैसे व्यक्ति के लिये जो मौलिक मान्यताओं पर ही शंका करता हो, यह मापदण्ड पूर्णत: विश्वसनीय नहीं है, जैसा कि आप कहते हैं । आपके अनुभव सभी के अनुभवों के अनुरूप नहीं, बल्कि उनके अनुभवों के अनुरूप होंगे जिन्होंने उसी प्रकार की साधना की होगी । अच्छा, कल्पना कीजिए कि एक ऐसी औषधि है जिसके सेवन से चारों ओर हाथी दिखायी देने लगते हैं । अगर इसके सेवन से मैं चारों ओर हाथी देखने का दावा करूँ तो क्या सार्वभौमिक अनुभव के साथ एक-रूपता के कारण मैं अपने अनुभव को सत्य कह सकता हूँ ? निश्चय ही नहीं । सम्भवत: आध्यात्मिक जीवन के लिए अनिवार्य तपस्या का अनुभूतियों के साथ वैसा ही सम्बन्ध हो जैसा औषधि का हाथियों के साथ ।

आपने तथाकथित आध्यात्मिक अनुभूतियों के परीक्षण के दो कसौटियों का उल्लेख किया था । दूसरी कौन सी है ?

धार्मिक—ईसामसीह की कसौटी, 'फल द्वारा तुम उन्हें पहचानोगे ।' साधुता एवं प्रेम के मात्र वैयक्तिक संवेदना का प्रभाव निश्चित रूप से धीरे धीरे घट जाएगा, विशेषकर परीक्षा के क्षणों में । लेकिन आध्यात्मिक अनु-भूति में ऐसे सत्य का साक्षात्कार करने की दृढ़ धारणा होती है जो स्वयं की परिवर्तनशील सत्ता के परे नित्य विद्यमान है तथा जो मनोभावों एवं बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होता । इसके फलस्वरूप व्यक्ति निर्भयता, नि:स्वार्थता

एवं प्रेम आ दि सद्गुणों में सदा के लिए प्रतिष्ठित हो जाता है, क्योंकि ये उस अपरिवर्तनशील सत्य पर आधारित हैं, जो क्षण-प्रतिक्षण परिवर्तित नहीं होता। जैसा कि सुकरात ने कहा था : 'सद्गुण ही ज्ञान है।'

वैज्ञानिक—यह मापदण्ड पहले से अधिक ठोस प्रतीत होता है, लेकिन फिर भी मैं निःसंशय नहीं हुआ हूँ। महान सद्गुणों की सत्यता को स्वीकार करने पर भी वास्तविक ज्ञान लाभ का जो नैतिक परिणाम हो सकता है, ज्ञान लाभ के मिथ्या विश्वास से भी तो वही हो सकता है ?

धार्मिक—मैं ऐसा नहीं सोचता। क्योंकि जिस ज्ञान की हम चर्चा कर रहे हैं वह बौद्धिक ज्ञान से कुछ अधिक है। खैर, इस प्रश्न को यहीं छोड़ दें। क्या आप जानते हैं कि आपका संशयवाद क्या प्रदर्शित करता है ? वह यह बताता है कि आध्यात्मिक अनुभूतियों को 'बाहर' से नहीं समझा जा सकता। यह पुरानी ईसाई कहावत बड़ी सारगर्भित है, 'पहले विश्वास करो, फिर ज्ञान लाभ होगा :' लेकिन मैं आपसे पूछता हूँ, 'क्या आप भी कुछ बातों में केवल इसलिये विश्वास नहीं करते कि आप उन पर विश्वास करना पसन्द करते हैं, न कि इसलिए कि वे 'बाहर' से सत्य प्रमाणित हो गयी है ?

वैज्ञानिक—मैं जानता हूँ कि मेरी जगत सम्बन्धी धारणा मेरी रुचियों-अरुचियों द्वारा प्रभावित है। लेकिन स्थिति, गति, भार, रासायनिक बनावट आदि वस्तुओं के वे गुण ही विज्ञान के विषय हैं जो हमारी रुचि-अरुचि से प्रभावित नहीं होते। इसलिये मैं वस्तुनिष्ठ सत्य के शास्त्र के रूप में विज्ञान को स्वीकार करता हूँ। लेकिन तथाकथित आध्यात्मिक मामलों में मैं ऐसा कोई बाह्य मापदण्ड नहीं

पाता जिसके आधार पर यह निर्णय किया जा सके कि अमुक अनुभव-विशेष सत्य से सम्बन्धित है, अथवा आत्मसम्मोहन का परिणाम है।

धार्मिक—यह इसलिए है कि आपने ऐसे किसी आधार को खोजने का प्रयत्न नहीं किया है।

वैज्ञानिक—लेकिन ऐसा आधार मैं कैसे खोज सकता हूँ। कौन सी वस्तु की मुझे खोज करनी चाहिए ?

धार्मिक—ऋषियों का कथन है कि उस आधार का शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। आध्यात्मिक अनुभूतियों के किसी आधार का दिग्दर्शन कराने के बदले (जो मैं कर भी नहीं सकता) मैं आपके प्रश्न का उत्तर नकारात्मक रूप से यह कहकर दूँगा कि आपके द्वारा स्वीकृत अमूर्त भौतिक तथ्यों को भी 'सिद्ध' नहीं किया जा सकता। दार्शनिकगण स्वीकार करते हैं कि किसी भी भौतिक तथ्य की स्वीकृति कुछ हद तक ऐच्छिक रहती है तथा उसमें मूल्य एवं महत्व का विचार भी रहता है। तथ्य का क्षणिक ज्ञान सत्य को भ्रान्ति से, स्वप्न को जाग्रत से पृथक् करने में समर्थ नहीं है। एक दूसरा द्विविध मापदण्ड भी अनजाने ही लगाया जाता है। (क) अन्य इन्द्रियलब्ध ज्ञानों के साथ सम्बद्धता; (ख) भौतिक सत्यों के महत्व की स्वीकृति। आपके लिये भौतिक तथ्य इसलिए सत्य एवं विश्वसनीय नहीं है कि किसी बाह्य मापदण्ड से आपने उन्हें परखा है, बल्कि इसलिए कि वे आन्तरिक दृष्टि से पूर्णरूप से असम्बद्ध है; एवं इसलिए भी कि आपने अपनी इच्छानुसार उनमें महत्व आरोपित किया है। यह तो डॉ. जॉनसन के उत्तर की तरह हुआ, जिन्होंने भौतिक जगत की सत्यता के बारे में प्रश्न किये जाने पर पैर पटकते हुए

कहा था, 'देखो, जगत सत्य है ।' यदि कोई स्वयं के देह-मन एवं अहंकार सहित अपने समस्त प्रत्यक्ष ज्ञान की वस्तुनिष्ठता-सत्यता पर शंका करे तो उसका यह कथन युक्तिसंगत होगा। लेकिन आप ऐसा करना नहीं चाहते ।

वैज्ञानिक—और मैं समझता हूँ कि आप भी नहीं चाहेंगे । आपके सुझाव के अनुरूप वस्तुओं के अस्तित्व को आज तक कौन अस्वीकार कर सका है ? भौतिक जगत की स्वीकृति हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं है । और इसे अस्वीकार करने का आत्महत्या के अतिरिक्त हमारे पास और कोई विकल्प भी नहीं है ।

धार्मिक व्यक्ति—हाँ, एक विकल्प तो है । श्री रामकृष्ण जैसे महान ऋषियों ने हमारे सामान्य इन्द्रिय ज्ञान, मन एवं अहंकार की ऐच्छिकता को यथार्थतः जाना था । उन्होंने अनुभवों के एक अन्य जगत—आत्मजगत—का पता लगाया था । क्या हम जगत की व्यापकता एवं अनुभूतियों की कल्पनातीत सम्भावनाओं को नकार सकते हैं ? इस रहस्यमय ब्रह्माण्ड में सामान्य मानव का दैनन्दिन दृष्टिकोण ही सत्य का एकमात्र माप-दण्ड हो, क्या यह बात अपने आप में असंगत नहीं प्रतीत होती ? आत्मजगत अपने आप में पूर्णरूप से सुसम्बद्ध है । तथा जो बिरले लोग उस जगत में विचरण करते हैं उनके लिये वह भौतिक जगत से अनन्तगुना अधिक मूल्यवान है । यदि महान सन्तों एवं ऋषियों की वाणी एवं व्यवहार का अध्ययन उनकी सम्भावनाओं के प्रति खुले मन से किया जाय तो वह दृढ़तापूर्वक सुझाएगा कि 'ऐसा ही है ।' वह यह सुझाएगा कि भौतिक पदार्थों की प्राथमिक

सत्ता की हमारी मान्यता से भिन्न सत्य का एक दूसरा दृष्टिकोण भी विद्यमान है।

वैज्ञानिक—उनके वचनों से इसका आभास मिलता है, लेकिन उनके कार्य किस तरह उस दिशा में इंगित कर सकते हैं ?

धार्मिक—'उनके परिणामों से तुम उन्हें पहचानोगे।' ईश्वर ही चरम सत्य है तथा मेरा अस्तित्व उसी में है. इसका प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर क्या मैं एक स्वार्थी व्यक्ति की तरह केवल अपना ही भला चाहूँगा ? भगवद्-गीता में आध्यात्मिक ज्ञान संपन्न व्यक्ति के व्यवहार का सुन्दर वर्णन किया गया है:—

"जब मनुष्य समस्त मनोगत कामनाओं का पूरी तरह त्याग कर आत्मा में ही सन्तुष्ट होता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है। दुःखों से अनुद्विग्न एवं सुखों में स्पृहाहीन, राग, भय एवं क्रोध से रहित मुनि स्थितप्रज्ञ कहलाता है। जो सर्वत्र आसक्ति रहित तथा शुभाशुभ प्राप्ति में आनन्द और द्वेष का बोध नहीं करता, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है। जब वह अपनी इन्द्रियों को विषयों से इस प्रकार खींच लेता है जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को समेट लेता है, तब उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित मानी जाती है...। जिसका मन ज्ञान एवं विज्ञान से तृप्त है,जो कूटस्थ, जितेन्द्रिय एवं कंचन व मिट्टी के ढेले में समबुद्धि रखता है, वह योगी युक्त अथवा प्रतिष्ठित कहलाता है। जो सुहृत्, मित्र, उदासीन, मध्यस्थ, शत्रु एवं बन्धु में तथा साधु एवं पापी में भी समबुद्धि है, वह योगी अति श्रेष्ठ है।...जो सर्वभूतों के प्रति द्वेषरहित, प्रेमयुक्त एवं करुण है, जो निरहंकार

एवं ममतारहित है, सुख-दुख में समभाववाला तथा क्षमाशील है; जो योगी सदा सन्तुष्ट, एवं दृढ़निश्चय वाला है; संयत मनवाला है तथा जिसने अपने मन एवं बुद्धि को मेरे प्रति समर्पित कर दिया है, मेरा ऐसा भक्त मुझे प्रिय है। जिससे संसार उद्विग्न नहीं होता तथा जो संसार से उद्विग्न नहीं होता, जो हर्ष, क्रोध, भय और उद्वेग से मुक्त है, वह मुझे प्रिय है।"[3]

स्वभाव से परिवर्तनशील बाह्य जगत को ही चरम सत्य के रूप में जाननेवाले व्यक्ति के लिए सभी परिस्थितियों में इसी प्रकार का व्यवहार सम्भव नहीं है।

वैज्ञानिक—मैं स्वीकार करता हूँ कि आपका दृष्टिकोण युक्तिसंगत है। वस्तुतः मैं आपके प्रति ईर्ष्यालु हूँ कि आप इसे पकड़े रहने में समर्थ हैं क्योंकि निश्चय ही यह जीवन के प्रति आपकी दृष्टि को अत्यन्त व्यापक बना देता है। लेकिन मुझे तो यह अत्यन्त असम्भाव्य लगता है। विज्ञान को हम जानते हैं और उस पर विश्वास कर सकते हैं। आपके द्वारा प्रतिपादित यह दूसरा जगत बिलकुल अज्ञात है। मेरे अनुसार तो आध्यात्मिक अनुभूति एक मानसिक विकृति को छोड़ और कुछ नहीं है।

धार्मिक व्यक्ति— अब, जैसा कि आप स्वीकार करते हैं—आप पूर्वग्रहों एवं एक विशेष प्रकार से सोचने की आदत पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर रहे हैं। लेकिन आपको कैसे दोष दिया जाय ? आध्यात्मिक जीवन के ज्वलन्त दृष्टान्तों के दुर्लभ होने के कारण धर्म-सम्प्रदायों के शब्दाडम्बर की अवहेलना के लिए व्यक्ति को दोष दिया

३. गीता २/५४-५८; ६/८-९; १२/१३-१५।

जा सकता है ? ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने वाले में ऐसी दृढ़ आन्तरिक निश्चिन्तता एवं अपनी उच्चतम अवस्थिति के प्रति ऐसा परम सन्तोष रहता है कि वह स्वयं को 'विकृत' कहे जाने पर केवल हँस देता है। कल्पनाओं के इस मायामय जगत में जहाँ स्वयं संशय ही ईश्वर है, वह ऋषि 'सामान्य' कहलाने का जरा भी इच्छुक नहीं। सम्भवत: ऐसा समय आ रहा है जब इस भौतिकवादी समाज में एक नयी भावना का उदय होगा और वह यह कि ईश्वर-दर्शन प्रत्येक व्यक्ति के लिये सम्भव है; तब सभी के उस दिशा में संघर्ष न करने पर भी जो ईश्वर का प्रत्यक्ष प्रयोगात्मक अनुभव करना चाहेंगे उन्हें युग-चेतना से उपहास एवं सन्देह के बदले, प्रोत्साहन प्राप्त होगा।

(क्रमशः)

●

जो साकार हैं, वे ही निराकार भी है। साकार रूप से वे ही भक्तों को दर्शन देते हैं। जैसे महासमुद्र में अनन्त जलराशि होती है, जिसका कूल-किनारा कुछ नहीं होता; परन्तु कहीं-कहीं अत्यन्त ठण्डक पड़ने के कारण पानी जमकर बर्फ के रूप में दीख पड़ता है; वैसे ही भक्तों के भक्तिरूपी हिम से निराकार परमात्मा का भी साकार रूप में दर्शन होता है। फिर सूर्यनारायण का उदय होते ही जसे बर्फ गल जाती है और पहले की भाँति जल मात्र रह जाता है, वैसे ज्ञानरूपी सूर्यदेव के प्रकट होने पर साकाररूप बर्फ पिघलकर केवल जलरूप निराकार ही विद्यमान रहता है।

—श्रीरामकृष्ण

माँ के सान्निध्य में (२०)

स्वामी ईशानानन्द

(प्रस्तुत संस्मरणों के लेखक माँ श्रीसारदादेवी के शिष्य थे। मूल बंगला ग्रन्थ 'श्रीश्रीमायेर कथा' से इनका अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के अध्यक्ष हैं। –स.)

१९०९ ई. के ज्येष्ठ मास में एक दिन प्रातःकाल मेरे सुनने में आया कि श्री माताजी पूजनीय शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द), योगिन-माँ, गोलाप-माँ आदि के साथ कलकत्ता जाते हुए उसी दिन शाम को चार बजे कोयलपाड़ा पहुँचेंगी। शिक्षक श्री केदारनाथ दत्त (स्वामी केशवानन्द) के गृह-मन्दिर में श्री माँ के तथा हमारे स्कूल में बाकी सबके ठहरने की व्यवस्था हुई है। परन्तु सन्ध्या हो जाने पर भी वे लोग पहुँचे नहीं। बाद में समाचार आया कि उनकी गाड़ी नदी के पास फँस गयी है। तुरन्त कुछ भक्त उसी ओर चल पड़े। बाद में रात के लगभग दस बजे सभी आ पहुँचे।

माँ भलीभाँति घूँघट काढ़े गाड़ी से उतरीं और पाँवों को थोड़ा घिसराते हुए केदारबाबू की माँ के साथ उनके घर के मन्दिर में गयीं। उन्होंने वहाँ ठाकुर को प्रणाम करके आसन ग्रहण किया और तदुपरान्त समवेत स्त्री एवं पुरुष भक्तों ने उन्हें प्रणाम किया। मैंने भी किया। केदारबाबू की माँ कान से थोड़ा ऊँचा सुनती थीं, अतः माताजी ने मेरे माध्यम से ही पुरुष भक्तों के साथ बातचीत की। पूजनीय शरत् महाराज ने कहला भेजा कि रात अधिक हो रही है, अतः माताजी ने थाली में से एक सन्देश का टुकड़ा तोड़कर ग्रहण किया और थोड़ा सा जल पीकर वे आगे की यात्रा के लिए उठकर खड़ी हो गयीं। मैंने भी

सब के साथ भीड़ क बीच उन्हें प्रणाम किया और उन्हें प्रणामी क रूप में पिताजी से जो कुछ मिला था, मैंने उनके हाथ में दे दिया। माँ ने स्नेहपूर्वक मेरी ठोड़ी का स्पर्श किया और फिर उस हाथ को चूमते हुए बोलीं, "बेटा, जो कुछ देना हो सब पाँव में देना चाहिए।" धीरे धीरे जाकर वे गाड़ी में चढ़ गयीं।

इन साधारण सी दो-चार बातों के माध्यम से मुझे उनके जिस स्नेह का आस्वादन मिला था, उसकी तुलना मे मातापिता का स्नेह भी उसी आयु में तुच्छ प्रतीत हुआ था।

एक बार जगद्धात्री पूजा के अवसर पर कलकत्ता से जयरामवाटी जाते समय माँ प्रातःकाल कोथलपाड़ा आश्रम में पहुँचीं। अपराह्न में वहाँ से रवाना होते समय उन्होंने आश्रम के उत्साही कर्मियों से कहा था, "यहाँ पर अब तुम्हीं लोग मेरे अपने हो। गाँव में अब तुम्हीं लोगों पर पूरी तरह निर्भर रहा जा सकता है। यहाँ देखती हूँ कि ठाकुर अब विराज रहे हैं।" एक एक कर सबको आशीर्वाद देने के बाद वे बोलीं, "बीच बीच में जयराम-वाटी आते रहना। विशेष कर जगद्धात्री पूजा के समय तुम सब को आना होगा।"

जगद्धात्री पूजा के दिन हम तीन लोग अपने खेत की कुछ साग-सब्जी लेकर जयरामवाटी गये। माँ हमें देखकर खूब आह्लादित हुईं और बोलीं, "यहाँ पर सब्जी आदि सब समय नहीं मिलती, कभी कभी बड़ी मुश्किल हो जाती है। सो देखती हूँ कि ठाकुर ही तुम लोगों के द्वारा सब जुटा दे रहे हैं।" उसी समय वे से जब भी गाँव में रहतीं, हम लोग आश्रम का दैनन्दिन कार्य समाप्त करने के बाद

सप्ताह में दो-तीन दिन कभी बगीचे से और कभी बाजार से खरीदकर उनके लिए सब्जी ले जाते थे। किसी किसी दिन वहाँ पहुँचकर देखते कि माँ लेटी हुई हैं। हम लोग सभी चीजें उनके निर्देशानुसार यथास्थान रखकर उन्हें प्रणाम करते, तो वे थोड़ा सा सिर उठाकर हमें आशीर्वाद देतीं, "तुम लोगों को चैतन्य हो, भक्ति-विश्वास हो" और कहतीं—थोड़ा सा मुरमुरा ले लो। हम लोग भी उसे लेकर खाते हुए किसी किसी दिन तो रात के बारह बजे आश्रम वापस पहुँचे।

जाड़े का मौसम था। एक दिन हम थोड़ी तरकारी और गाय का कुछ घी सिर पर लिये सन्ध्या के समय पसीने से तर-बतर हो जयरामवाटी पहुँचे। एक मामी हमारी हालत देखकर बोलीं, "भक्त होने से ही इतना कष्ट! बोझ ढोते ढोते लड़कों का सिर घिस गया।" यह बात सुनकर माताजी ने कहा, "उनका अपना सिर अब है ही कहाँ? जिसका सिर था उसे ही दे दिया है।" इसके बाद उन्होंने बड़े स्नेहपूर्वक हमारे सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया। बाद में उन्होंने आश्रम में हम लोगों से कहला भेजा था, "एक साथ इतनी चीजें न भेजकर थोड़ा थोड़ा भेजना, नहीं तो सूखकर बरबाद होता है।" इसके बाद से हम लोग छोटी गठरी लेकर बार बार उनके पास जाया करते थे।

जगद्धात्री पूजा के उपरान्त माँ कलकत्ता जानेवाली थीं। उन दिनों कोयलपाड़ा आश्रम में खूब स्वदेशी चर्चा होती थी और ध्यान, जप, पूजा, पाठ आदि की अपेक्षा करघा, चरखा इत्यादि की ओर ही सबका ज्यादा झुकाव था। माँ चली जायँगी यह सुनकर केदारबाबू उनका दर्शन

करने जयरामवाटी गये । माँ ने उनसे कहा, "देखो बेटा, जब तुम लोगों ने ठाकुर के लिए एक कमरा और हम लोगों के पथ विश्राम करने के निमित्त थोड़ा सा स्थान बनाया है, तो फिर इस बार जाते समय वहाँ ठाकुर को बिठाकर जाऊँगी । सब व्यवस्था करके रखना । पूजा, अन्नभोग, आरती सब नियमित रूप से करना । केवल स्वदेशी करने से क्या होगा ? हम लोगों का जो कुछ भी है, सबके मूल में ठाकुर हैं । वे ही आदर्श हैं । चाहे जो करो, उन्हें पकड़े रहने पर भूल न होगी ।" केदारबाबू बोले, "स्वामीजी* ने तो देश का काम करने के लिए बहुत कहा है । उनके जीवित रहने पर आज देश का कितना काम होता !" यह सुनकर माँ तुरन्त बोलीं, "अरे बेटा, मेरा नरेन आज रहता, तो कम्पनी क्या उसे छोड़ देती ? जेल में डालकर रखती । मुझसे वह देखा नहीं जा सकता था । नरेन मानो नंगी तलवार था । विलायत से लौटकर आने के बाद मुझसे बोला, 'माँ, आपके आशीर्वाद से इस युग में छलांग न लगाकर, उन्हीं के बनाये जहाज में चढ़कर उस मुल्क में गया था । वहाँ भी मैंने ठाकुर की महिमा देखी । कितने ही सज्जन लोगों ने मन्त्रमुग्ध के समान मुझसे उनकी बातें सुनी और उनका भाव लिया' ।" तदुपरान्त वे बोलीं, "वे भी तो मेरे ही बच्चे हैं, क्यों ठीक है न ?"

इसी सिलसिले में एक-दो घटनाएँ याद आ रही हैं । एक बार पूजा के समय माँ ने मुझ मामा लोगों के लड़के-लड़कियों के लिए कुछ कपड़े खरीदने की जिम्मेदारी सौंपी । मैं सब स्वदेशी कपड़े खरीदकर ले गया । लड़कियों को अधिकांश कपड़े पसन्द नहीं आये और वे अपनी अपनी

* स्वामी विवेकानन्द

रुचि के अनुसार फरमाइश करने लगीं। मैं उत्तेजित होकर बोला, "वह सब तो विलायती चीजें है, वह भला क्यों लाऊँ ?" माताजी भी एक ओर बैठी थीं। वे थोड़ा हँसते हुए बोलीं, "बेटा, वे (विदेशी) लोग भी तो मेरी सन्तान हैं। मुझे मब को लेकर घर सम्भालना पड़ता है। मेरे एकांगी होने से क्या चलेगा ?" ये लोग जो जो चाहती हैं वही ला दो।" बाद में मैंने देखा कि किसी के लिए कोई चीज मँगानी हो तो माँ मुझे न कहकर किसी अन्य से मँगा लेती थीं। किसी के भी भावनाओं को आघात पहुँचाना उनके स्वभाव के विपरीत था।

परन्तु जिस दिन समाचार मिला कि बाँकुड़ा की पुलिस स्वदेशी आन्दोलन के किसी मामले में यूथबिहार गाँव के देवेनबाबू की पत्नी और बहन सिन्धुबाला (दोनों का एक ही नाम था) को जबकि वे दोनों ही गर्भवती थीं, बन्दी बनाकर उन्हें पैदल चलाते हुए थाने ले गयी है, उस दिन माँ की अग्निमूर्ति देखकर सभी स्तम्भित रह गये थे। माँ तो पहले "कहते क्या हो !" बोलकर सिहर उठीं। तत्पश्चात् वे बोलीं, "यह क्या कम्पनी (अंग्रेज सरकार) का आदेश है, या फिर पुलिस अफसर की कारस्तानी ? निरपराध नारियों पर इतना अत्याचार तो महारानी विक्टोरिया के काल में कभी सुनने में नहीं आया ! यह यदि कम्पनी के आदेश से हुआ हो, तो उनके दिन पूरे हो चले हैं। क्या वहाँ कोई पुरुष नहीं था जो उन्हें दो थप्पड़ लगाकर दोनों महिलाओं को छुड़ा लाता?" थोड़ी देर बाद जब समाचार आया कि उन्हें छोड़ दिया गया है तब जाकर वे काफी कुछ शान्त हुईं और बोलीं, "यह समाचार यदि नहीं मिलता तो आज मैं सो नहीं पाती थी।"

और एक बार जब माँ कोयलपाड़ा में थीं, एक दिन पूजनीय शरत् महाराज ने रासबिहारी महाराज को कुछ आम देकर उन्हें माँ के पास भेजा था। उनके पहुँचने के थोड़ी देर बाद ही प्रबोधबाबू माँ को प्रणाम करने आये। कुशल प्रश्न आदि के बाद माँ ने उनसे पूछा, "क्यों जी, युद्ध की क्या खबर है ? लोगों का कितना विनाश हुआ है—मनुष्य को मारने की ैसी कैसी मशीन बनायी है ! टेलीग्राफ आदि आजकल कितने यन्त्र हो गये हैं। यही देखो न, रासबिहारी कल कलकत्ते से रवाना होकर आज यहाँ पहुँच गया। उन दिनों हम लोग कितना पैदल चलकर, कितने कष्ट उठाकर दक्षिणेश्वर जाते थे।" प्रबोधबाबू थोड़े उत्साहित होकर पाश्चात्य शिक्षा एवं विज्ञान की प्रशंसा करते हुए बोले, "अंग्रेज सरकार ने हमारे देश के सुख-स्वाच्छन्द्य में काफी वृद्धि कर दी है।" माँ सब बातों में हामी भरती हुई अन्त में बोलीं, "लेकिन बेटा, ये सब सुविधाएँ हो जाने पर भी हमारे देश में अन्न-वस्त्र का अभाव बहुत बढ़ गया है। पहले अन्न का इतना कष्ट न था।"

कलकत्ता जाने के मार्ग में माँ ने कोयलपाड़ा आश्रम में ठहरकर वहाँ ठाकुर-प्रतिष्ठा की। अपने हाथ से ठाकुर का तथा अपना फोटो सजाकर उन्होंने विशेष पूजा की और किशोर दादा के द्वारा होम तथा अन्य क्रियाएँ करवायीं। दोपहर में माँ, केदारबाबू की माताजी के साथ उनके घर थोड़ा टहलने के लिए गयीं। केदारबाबू के घर से लौटते समय प्र.—महाराज ने पालकी लाकर बीच रास्ते में ही उन्हें उस पर चढ़ने को कहा। माँ थोड़ी अप्रसन्न होकर उस पर चढ़ीं। आश्रम में पहुँचकर माँ ने उन्हें खूब फट-कारते हुए कहा, "यह मेरा अपना गाँव है। कोयलपाड़ा

मेरा बैठकखाना है। ये सब लड़के मेरे अपने जन हैं। यहाँ पर आकर मैं थोड़ी बहुत स्वाधीनता के साथ चलती फिरती हूँ। कलकत्ते से आकर यहाँ राहत की साँस लेती हूँ। वहाँ तो तुम लोग मुझे मानो पिंजरे में बन्द करके रखते हो, मुझे हमेशा संकुचित होकर रहना पड़ता है। यहाँ पर भी यदि तुम्हीं लोगों के कथनानुसार मुझे पाँव रखना होगा, तो मैं यह नहीं कर सकूंगी। शरत् को लिख दो।" तब प्र.–महाराज क्षमा माँगते हुए बोले, "शरत् महाराज ने मुझको बड़ी सावधानी के साथ आपको ले जाने का आदेश दिया था। मुझे लगा कि सम्भवत: मेरी भूल के कारण आप पैदल गयी हैं। सो माँ, आपकी जैसी इच्छा वैसा ही करें।"

प्र.—महाराज के कथनानुसार यह निश्चित हुआ कि शाम को छ: बजे के पूर्व ही हम लोग उनका भोजन तैयार करके उनके साथ दे देंगे। परन्तु काफी प्रयास करने के बाद भी हम लोग समय पर काम पूरा नहीं कर पा रहे हैं यह देखकर वे नाराज होने लगे। राजेन दादा बोले, "ठीक है, आप अपने समय के अनुसार इन्हें साथ लेकर रवाना होइए। हम लोग खाना तैयार करके, चाहे जितनी दूर हो, सिर पर रखकर पहुँचा देंगे।" यह सब माँ के कान में पड़ने पर उन्होंने प्र.––महाराज से कहा, "तुम इतनी नाराजगी क्यों दिखा रहे हो ? यह तो हमारा गवई गाँव है; यहाँ भी क्या कलकत्ता के समान सब कुछ घड़ी के काँटे के साथ साथ हो सकता है ? देखते हो न कि ये लड़के सुबह से ही कितना परिश्रम कर रहे हैं ! तुम चाहे जो कहो, पर यहाँ से बिना खाये जाना नहीं होगा। आखिरकार रात के लगभग आठ बजे भोजन आदि करके आठ बैलगाड़ियों में सब लोग विष्णुपुर की ओर रवाना हुए। (क्रमश:)

स्वामी शिवानन्द के उपदेश

(महापुरुष महाराज के रूप में विख्यात् स्वामी शिवानन्दजी महाराज भगवान श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग पार्षदों में अन्यतम तथा रामकृष्ण संघ के द्वितीय परमाध्यक्ष थे। उनकी जीवनी, उपदेश तथा संस्मरणों से सम्बन्धित कई ग्रन्थों का हिन्दी में प्रकाशन हो चुका है। प्रस्तुत उपदेश 'अमिय-वाणी' नामक बंगला ग्रन्थ से संकलित तथा अनुवादित हुए हैं। —स.)

मनुष्य, कभी गुरु नहीं हो सकता। जब कोई सद्गुरु शिष्य को दीक्षा देते हैं, तो उस समय स्वयं भगवान ही गुरु के हृदय में आवीर्भूत होकर शिष्य के प्राणों में शक्ति-संचार करते हैं। गुरु और इष्ट एक हैं। वे ही गुरु रूप में मेरे अन्तर में बैठकर भक्तों पर कृपा कर रहे हैं।

गुरु के द्वार पर कुत्ते के माफिक पड़े रहो। हमारे प्रभु के द्वार पर कुत्ते के समान एकनिष्ठभाव से शरणागत होकर पड़े रहना होगा। जो अन्त तक उनके आश्रय में पड़ा रह सकेगा, उसका हो जाएगा। सच्चे शरणापन्न भक्तों को भय नहीं, प्रभु उन्हें कुपथ से बचाकर ठीक पथ पर ला देंगे।

मन्त्र, गुरु और इष्ट—ये तीनों एक हैं।

मन्त्र सिद्ध-गुरु के मुख से निकलने पर उससे मन्त्र चेतन होता है, अन्यथा वह शब्द मात्र है। गुरु अपनी शक्ति के द्वारा मन्त्र-चैतन्य कर देते हैं।

मन्त्र में बीज और नाम अभेद है। नाम जिनका है, बीज भी उन्हीं का है। बीज और नाम एक ही है।

ठाकुर हमें जितने ही अपने प्रतीत होंगे, उतना ही ध्यान-जप अपने-आप होगा।

जप के द्वारा कुण्डलिनी-शक्ति का जागरण होता है। इस जागरण का लक्षण है जप में आनन्द पाना।

श्री ठाकुर की मूर्ति सामने रखकर, उनकी ओर देखते हुए उनका चिन्तन करने पर निश्चय ही ध्यान होगा।

मन को स्थिर करने का एकमात्र प्रमुख और सहज उपाय यह है—ठाकुरजी की मूर्ति के सामने बैठकर, उनकी ओर दृष्टि रखकर, उनके नाम का जप करना और यह दृढ़ विश्वास रखना कि ठाकुर तुम्हारी ओर देख रहे हैं, तुम्हारा जप सुन रहे हैं तथा तुम पर कृपा करने के लिए बैठे हुए हैं। वे परम दयालु हैं, भक्तों के परम आत्मीय हैं और प्राणों के प्राण हैं। वे ही पिता हैं, वे ही माता हैं, वे ही जीवन-सर्वस्व हैं।

द्रुत गति से जप न कर, धीरे धीरे उनका नाम लेने से हृदय में आनन्द और प्रेम का अधिक बोध होता है, संख्या चाहे अधिक हो या न भी हो। संख्या की ओर नहीं, अपितु भाव की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। अपने हृदय का सारा प्रेम उनके पादपद्मों में ढाल देना। जप करते करते उनकी कृपा होती है। कृपा होते ही मन स्थिर होगा और आनन्द होगा।

मन ही मन जप करना ही सर्वश्रेष्ठ जप है। पहले-पहल संख्या रखकर जप करना अच्छा है। प्रतिदिन दो बार आसन पर बैठकर जप करना एक-एक बार में एक हजार से कम न हो। नाम और नामी अभेद हैं। संख्या भी नहीं और समय भी नहीं, बल्कि वे देखते हैं प्राण।

महानिशा साधन-भजन का प्रकृष्ट समय है। जब सभी सो जाँय, उस समय गहरी रात में उठकर एक मन से भगवान को पुकारना, उनके साथ एक हो जाना।

रात में तीन चार बजे के बाद मत सोना। रात में

खूब थोड़ा खाना। बीच बीच में रात का भोजन बिल्कुल बन्द करके सन्ध्या से प्रातःकाल तक जप करना।

ध्यान-जप करने के बाद ही आसन छोड़कर नहीं जाना चाहिए। इससे भाव दृढ़ नहीं होता। ध्यान भंग होने के बाद अपने आसन पर ही बैठे बैठे अन्ततः कुछ काल तक ध्यान के विषय में ही सोचना चाहिए। इसके बाद ध्यान के अनुकूल खूब अच्छे अच्छे स्तोत्रों आदि का पाठ करना चाहिए। इससे ध्यान का भाव तथा आनन्द और भी घनीभूत हो जाता है। आसन त्याग करने के बाद भी कुछ देर तक किसी के साथ बातचीत न करके मन ही मन स्मरण-मनन करना चाहिए। इससे ऐसा अनुभव होता है मानो (अब भी) उसी ध्यान का नशा लगा हुआ है। दिन के अन्त में कम से कम एक बार अपने को सबकुछ से निकालकर आत्मस्थ कर लेना।

गायत्री जप अवश्य करना। गायत्री अति उच्चकोटि की साधना है। गायत्री की क्या भला कोई मूर्ति है? वे ही त्रिजगत की प्रसविनी, ब्रह्मशक्ति माँ हैं। ठाकुर ही गायत्री हैं।

प्रीति की पूजा में कोई विशेष नियम नहीं होता। बाह्य पूजा की सुविधा न हो तो मानस-पूजा करना यह भी उत्तम है।

खूब प्रेमपूर्वक नाम जपने से मन स्थिर हो जाता है और प्राणायाम अपने आप होता रहता है। असल चीज है– प्रेम और आन्तरिकता।

प्रेम के साथ एक बार नाम लेने से ही वह लाख जप से अधिक हो जाता है। उन्हें पुकारने का कोई विशेष उपाय हो, ऐसी बात नहीं। केवल उनसे प्रेम करने का

प्रयत्न करना ।

सोते समय ठाकुर आकर दिखा देते थे—चित्त होकर सोने के ऊपर माँ का ध्यान करते हुए सोने से अच्छे स्वप्न आते हैं। मैं उन्हें माँ ही कहता था, अब भी कहता हूँ। मैंने कहा था, "आप मेरी चिन्मयी माँ हैं।"

उनके नाम में डूब जाना, तभी तो होगा। तभी मन में शान्ति आएगी, आनन्द प्राप्त होगा। ऊपर ऊपर से पुकारने पर नहीं होगा, व्याकुल होना होगा। प्रेम के बिना उन्हें नहीं पाया जा सकता।

भाव का जितना ही सम्वरण किया जा सके, भीतर उतनी ही उसकी वृद्धि होती है। नहीं तो फिर, भीतर में जितना भाव होता है, उतना ही बाहर हो जाने पर, भाव जमने नहीं पाता।

जप के साथ ही साथ खूब एकाग्रतापूर्वक सोचना कि वे स्नेहपूर्वक तुम्हारी ओर देख रहे हैं। वही भाव उसी प्रकार दीर्घकाल स्थायी होने पर उसे ध्यान कहते हैं। उनसे जितना ही प्रेम करोगे, उतना ही ध्यान और आनन्द होगा। प्रीति होने से ही सन्तोष होता है, विश्वास में ही शान्ति मिलती है।

विश्वास और विचारपथ—दोनों का आश्रय लेना अच्छा है। विचार इस प्रकार करना चाहिए, जिससे विश्वास दृढ़ हो। जो विचार महात्माओं पर अविश्वास ला देता है, वह अविचार है; ठीक विचार नहीं है। विश्वास होने से ही भक्ति-प्रीति अपने आप आती है, बिना आये रह नहीं सकती।

अनेक जन्मों के पुण्य के फलस्वरूप ठीक-ठीक साधु-संग और कृपा का लाभ होता है। भगवद्द्रष्टा पुरुष के

पास जाते ही प्राणों में ईश्वरीय भाव जाग्रत हो जाते हैं।

पाल तान देने का अर्थ है उद्यम—अपने प्रयास और आन्तरिक अध्यवसाय की सहायता से साधन भजन करना। जब तक मनुष्य में 'अहं' बोध है, तब तक उसे अध्यवसाय करना ही होगा।

अनात्म अस्तु में शान्ति नहीं है, आत्मज्ञान की प्राप्ति में ही वास्तविक शान्ति है। शान्ति भीतर ही है, बाहर नहीं। उस परमानन्द की खान तो अन्दर ही है। मुक्ति की खोज में बाहर कहीं भी जाने की आवश्यकता नहीं होती।

जितनी ही ब्रह्म की उपलब्धि होगी, उतनी ही जगत को दया, प्रेम और सेवा करने की इच्छा होगी। सावधान! कहीं शुष्क वेदान्ती न हो जाना। ठाकुर के घर में शुष्कता नहीं है, वह बाहरी चीज है।

साधन-भजन के लिए किसी की बड़ाई नहीं करनी चाहिए। यदि तुम्हें निर्विकल्प समाधि हो जाय, तो भी क्या? तुम जो थे, वही हो गये; इसमें अहंकार करने का क्या है?

साधन-भजन में संसार बड़ा ही बाधक है, परन्तु भगत्प्रेमिक के लिए विवेक-वैराग्य की वृद्धि का हेतु है। संसार उन्हें जितना ही विघ्नकारी प्रतीत होगा, उनका मन उतना ही भगवान की ओर जाएगा। संसार की ये ही तकलीफें भगवद्भक्ति का कारण होती हैं। भक्त जितना ही कष्ट पाते हैं, उतने ही अधिक प्रबल वेग से उनके प्रति भक्ति करते हैं। भक्ति-विश्वास बढ़ाने के लिए प्रभु अपने भक्त को विपत्ति में डालते हैं।

किसी तरह के अभाव का बोध मत करना। हृदय में भगवत्प्रेम व भक्ति रहे तो सांसारिक अभाव का बोध

हो नहीं होता। हृदय में सदा सन्तोष विराजता है और भक्त का जो कुछ अभाव है, वह सब प्रभु ही पूर्ण कर देते हैं।

भक्त जानता है कि भगवान सुख दे रहे है और वे ही दुःख-कष्ट भी दे रहे हैं। अतः सब कुछ श्री भगवान का दान, उन्हीं का आशीर्वाद मानकर वह चुपचाप सहन कर पाता है। संसार में जैसे सुख, वैसे ही दुःख भी अनित्य व क्षणभंगुर है। वह सब आता है और फिर चला जाता है, कुछ भी रहता नहीं। एकमात्र नित्य-वस्तु, एकमात्र शान्तिनिधान हैं — श्री भगवान।

भक्त के लिए अधिक घूमना-फिरना अच्छा नहीं, इससे भक्ति की हानि होती है। इसीलिए थोड़ा-बहुत घूम-फिर लेने के बाद एक जगह चुपचाप बैठकर साधन भजन करना चाहिए। हाँ, परिव्राजक अवस्था की बात और है, उस समय तो एक व्रत लेकर रहा जाता है।

दक्षिणेश्वर में माँ काली खूब जाग्रत हैं, वहाँ माँ का विशेष प्रकाश है।

गंगा की हवा जितने दूर जाती है, उतने दूर तक पवित्र हो जाता है। गंगा का पश्चिमी तट वाराणसी के तुल्य है।

कनखल, हृषीकेश साधना की दृष्टि से अति उपयोगी स्थान हैं। उत्तराखण्ड में उत्तरकाशी साधन-भजन के लिए अतीव अनुकूल है। वहाँ पर महादेव का विशेष प्रकाश है।

वृन्दावन क्या कम स्थान है जी! वह तो स्वयं भगवान का ही लीलास्थल है। उस स्थान की आध्यात्मिक जलवायु ही स्वतन्त्र है।

जगन्नाथ खूब जाग्रत देवता हैं। भुवनेश्वर साधन-भजन के लिए अत्यन्त अनुकूल स्थान है। महाशैव तीर्थ है।

मन सर्वदा एक भाव में रहता हो ऐसी बात नहीं। उसकी गति तरंग के समान है। एक बार वह खूब ऊँचाई पर चला जाता है, फिर और भी वेग से उपर उठने के लिए खूब नीचे उतर आता है।

तत्वज्ञान का अर्थ केवल इतना है—वे अन्तरात्मा है इसी की उपलब्धि करना। उन्हें हृदय में अनुभव करना ही तत्त्वज्ञान है।

आत्मज्ञान और भगवत्कृपा के बिना कर्मनाश नहीं होता। उनकी इच्छा हो तो कर्मभोग कम कर दे सकते हैं, यहां तक कि वे उसका नाश भी कर सकते है। कर्म-फल का नाश मनुष्य के प्रयासों पर निर्भर नहीं करता; भगवान की कृपा के अतिरिक्त इसका अन्य कोई उपाय नहीं।'

भक्त कौन है? स्वयं भगवान ही अपनी लीला का आस्वादन करने के लिए एक अंश से भक्त के रूप में आविर्भूत होते हैं। इसीलिए ठाकुर कहते थे, "भागवत भक्त, भगवान।"

उनके पुष्पोद्यान में विविध प्रकार के पुष्प हैं। किसी एक की अपेक्षा कोई दूसरा निकृष्ट नहीं है। सभी उत्कृष्ट हैं। गुलाब गुलाब ही है, बेला बेला ही है, जुही जुही ही हैं, गुड़हल गुड़हल ही है; सब अपने अपने में अच्छे हैं। जिसे वे जिस रूप में चला रहे हैं, वह उसी रूप में चल रहा है। सभी अच्छे हैं।

○